श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली।—

(१) श्री भंवरीलाल जी जैन पाण्डया, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्डया, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मंत्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्डया, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह

(२५) श्री बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
(२७) ,, ला० सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
(२८) श्रीमती धनवंती देवी ध० प० स्व० ज्ञानचन्द जी जैन, इटावा
(२९) श्री दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर, कानपुर
(३०) श्री गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, लालगोला
(३१) दि० जैनसमाज नाई मंडी, आगरा
(३२) दि० जैनसमाज जैनमन्दिर नमकमंडी, आगरा
(३३) श्रीमती शैलकुमारी ध० प० बा० इन्द्रजीत जी वकील, कानपुर
* (३४) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया
* (३५) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छावड़ा, झूमरीतिलैया
* (३६) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
* (३७) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या, जयपुर
* (३८) ,, बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ
* (३९) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
× (४०) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
× (४१) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
× (४२) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला
× (४३) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला

नोटः—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान , जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान , वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान , अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान , बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन , मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान , फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम , विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम , आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

—:०:—

नियमसार प्रवचन चतुर्थ भाग

प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी 'श्रीमत्सहजानन्द' महाराज

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥

शुद्धभावाधिकारके बाद व्यवहारचारित्राधिकार कहनेका वर्तमान कारण— इस गाथासे पहिले शुद्धभावका अधिकार १८ गाथावों में किया गया था। उसमें जीवका सहज शुद्धपरिणाम क्या है? इस सम्बन्धमें बहुत विस्तारसे वर्णन किया गया है। और यह शिक्षा दी गयी है कि हे भव्य जीवो! यदि संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा चाहते हो तो निज इस सहज शुद्धभावरूप अपने आपकी प्रतीति करो। इसही चैतन्यस्वभाव में रुचि करो—इसही का परिज्ञान करो, इसही में रमण करो और इस ही में उपयोगका प्रतपन करो। यह बात पूर्णरूपसे युक्त है, किन्तु वर्तमान स्थितिको देखते हुए यह बहुत कम सम्भव पाया जाता है कि ऐसे शुद्धभाव में ही यह मग्न रहा करे। कदाचित् दृष्टि पहुंचती है और प्रतीति निरन्तर रहा करती है, किन्तु उस सहज शुद्ध भावमें मग्न हो सके, ऐसी स्थिरता इस जीवमें नहीं है, तब ऐसी स्थितिमें मेरा उपयोग कुछ बाहरी बातोंमें भी लग जाता है; साथ ही जब शरीरका सबन्ध है तब शारीरिक बाधाएँ जैसे भूख प्यास आदिककी बाधाएं भी हो जाया करती हैं उस स्थितिमें सभी वातावरणोंसे बचना और शारीरिक बाधावोंका भी यथा समय शमन करना यह आवश्यक हो जाता है। तब किस प्रकारकी परिणति इस ज्ञानी संतको करना चाहिए? इन समस्त प्रवृत्तियोंका वर्णन इस व्यवहार चारित्र अधिकारमें आ रहा है। इसही अधिकारकी यह प्रथम गाथा है।

तेरह प्रकारका चारित्र— इस अधिकारमें अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और परिग्रहत्याग महाव्रत—इन महाव्रतोंका वर्णन आयेगा। इसके बाद ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और व्युत्सर्गसमिति—इन ५ समितियोंका वर्णन होगा। इसके पश्चात् कायगुप्ति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, इनका वर्णन होगा। यह १३ प्रकारका चारित्र कहलाता है—५ महाव्रत, ५ समिति और तीन गुप्ति। जैसे कोई लोग कहते हैं कि हम तेरापंथी हैं—उस तेरापंथीका अर्थ लोग दो तरहसे लगाते हैं कि तेरह प्रकारका चारित्र जिस पंथमें बताया गया है उस पंथके हम मानने वाले हैं। दूसरा अर्थ यह करते हैं कि

हे प्रभु, हे अरहंत देव ! जो तेरा पंथ था वही मेरा पंथ है। तो तेरे पंथको मानने वाले हम हैं इसलिए तेरापंथी हैं।

चारित्र द्वारा साध्य व चारित्रके साधक परमेष्ठी— इक तेरह प्रकारके चारित्रोंका विधिवत् पालन करने में निश्चयचारित्रका स्पर्श बनाए रहनेमें अंतमें जो फल होता है वह फल है कर्मोंका क्षय होना और अरहंत अवस्था प्रकट होना। इसके पश्चात् सिद्ध अवस्था प्रकट होती है। इन १३ प्रकारके चारित्रोंके साधक आचार्य, उपाध्याय और साधु होते हैं। यों साधक और साध्यका स्वरूप बताने के लिए पंचपरमेष्ठियोंका इसके पश्चात् वर्णन होगा। इस तरह इस व्यवहारचारित्र अधिकारमें संक्षिप्त और मूल साधनोंका वर्णन करने वाला स्पष्ट साफ सह व्यवहारचारित्र आयेगा।

तेरह प्रकारके चारित्रके साधक— इन १३ प्रकारके चारित्रोंमें प्रथम नाम है अहिंसा महाव्रतका। इस गाथामें अहिंसाव्रतका स्वरूप बताया गया है। इस अधिकारमें साधुवोंके व्रतोंका वर्णन है क्योंकि नियमसारके साक्षात् साधक साधु पुरुष ही हो सकते हैं। साधु किसे कहते हैं, जिसको केवल सहजस्वभाव व्यक्ति सिद्ध करनेका ही ध्यान हो और कोई अलावज्ञा जिसके उपयोगमें नहीं है उसे कहते हैं साधु। हम लोग साधुवोंके उपासक कहलाते हैं। तो हमें साधुवोंमें मोक्षमार्गका आदर्श मिला तब तो हम उपासना करते हैं। साधुजन केवल ज्ञान ध्यान और तपस्यामें ही रहा करते हैं, तीनके सिवाय चौथा काम साधुका है ही नहीं। साधुज्ञानके काममें लगा हो, ध्यानके काममें लगा हो या तपश्चरणमें होगा, इनके अतिरिक्त सामाजिक उत्सव अथवा अन्य कोई मकान बनवानेका प्रसंग आये या यहां वहांके आहारकी कथाएं गप्पसप्प ये सब काम लौकिकजनों के हैं। साधु तो आदर्श होते हैं। हम क्यों साधुके दर्शन करते हैं ? उसके दर्शन करके हमें अपना आदर्श मिलता है कि मुझे क्या करना है ?

दर्शनीय साधक— दर्शन करनेका प्रयोजन यह है कि मनमें यह आये कि मुझे ऐसा बनना है। जिसके प्रति यह भाव देखकर जगे कि मुझे यों बनना है वही दर्शनके योग्य है। अरहंतकी मुद्राको देखकर यों परिणाम होना चाहिए कि यों बने बिना संकटोंसे छुटकारा न होगा। साधुमुद्राके दर्शन करके चित्तमें यह परिणाम आना चाहिए कि संकटोंसे मुक्त होनेके लिए ऐसा ही बनना होगा। ऐसे साधुका इस व्यवहारचारित्रमें वर्णन चलेगा कि साधु किस-किस प्रकार अपनी चर्या रखते हैं ? इनका प्रथम चारित्र है अहिंसाव्रत।

अहिंसा व्रतका लक्षण— अहिंसाव्रतका लक्षण इस गाथामें यों बताया है—कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान इनमें जीवोंको जानकर उसके आरम्भकी निवृत्तिका परिणाम बनाना सो अहिंसामहाव्रत है। यह जीवस्थान चर्चा पढ़ना चारित्रके बढ़ने के लिए भी कारण है। जब तक यह विदित न होगा कि जीव इस इस प्रकार इन-इन स्थानोंमें हुआ करता है तब तक हिंसाके आरम्भसे निवृत्ति कैसे कर सकते हैं ?

अजानकारके बंधके विषयमें चर्चा— कोई पुरुष यों शंका करते हैं कि जो जाने कि जलमें जीव है वह बिना छना जल पीवे तो उसके दोष लगे। जिसको पता ही नहीं है कि जलमें जीव हैं उसको क्यों दोष लगे ? जो ज्ञानी है, जानता है कि हिंसामें ये दोष हुआ करते हैं उससे हिंसा बने तब उसको दोष लगेगा। जो समझता ही नहीं कि हिंसामें दोष क्या है, सीधा जानता है कि पेट भरना है सो कार्य करता है उसे क्यों दोष लगेगा ? किन्तु ऐसी शंका करना युक्त नहीं है। अच्छा बतावो ज्ञान है यह दोषकी बात है या ज्ञान नहीं है यह दोषकी बात है ? अरे अज्ञान सबसे बड़ा दोष है। अज्ञानी जीव चाहे कुछ भी न कर रहा हो, आलस्यमें पड़ा हो तो भी अज्ञानके कारण निरन्तर उसके इतना बंध है जितना कि ज्ञानी जीवको नहीं हो पाता।

अजानकारीमें बन्ध विशेष पर उदाहरण— एक उदाहरण लीजिए आगकी जलती हुई डली आगे पड़ी हुई हो और उसे जान रहे हों कि यह आगकी डली पड़ी है और किसी कारण उस आग परसे कूदकर ही जाना पड़े अथवा कोई धक्का लगा दे और आग पर कूदकर ही जाना पड़े तो उसे जब यह मालूम है कि यह आग पड़ी है तो उस पर बहुत जल्दी पैर धरकर निकल जावोगे, कम जलोगे और पीठ पीछे ही आग पड़ी है तथा मुझे पता नहीं है कि पीछे आगकी डली पड़ी है और कदाचित् पैर रख दूं तो दृढ़तासे पैर रक्खूँगा तो अधिक जल जाऊंगा। अब यह बतलावो कि जानी हुई वृत्तिमें कम जलेंगे या बिना जानेकी वृत्तिमें कम जलेंगे ? उत्तर होगा कि बिना जाने हुए आगमें पैर रखनेमें ज्यादा जलेंगे। कितने ही लोग कहते हैं कि जो ज्यादा जान जायेगा उससे कोई त्रुटि होगी, गल्ती होगी तो बड़ा पाप लगेगा, जो नहीं जानता है उसको किसमें पाप ? किन्तु यह जानो कि जानने वाला पुरुष त्रुटि भी करेगा तो अन्तरङ्गमें हटता हुआ त्रुटि करेगा, लगता हुआ न करेगा, किन्तु अज्ञानीजन लगते हुए भी त्रुटि करेंगे।

व्यवहारचारित्रके वर्णनका प्रयोजन— खैर, प्रकृत बात इतनी है कि सर्वप्रथम जीवके रहनेका स्थान, जानना अत्यन्त आवश्यक है और इस समयमें शुद्धभावाधिकारमें ही कुन्दकुन्दाचार्यदेवने तो केवल नाम लेकर बताया है और निषेधरूपसे बताया है कि कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान ये जीवमें नहीं हैं, जीवसे ये परे हैं। वहां प्रयोजन जीवके शुद्ध सहजस्वभावको बतानेका था। यहां प्रयोजन व्यवहार वर्णनका है। यह वर्णन इसलिए किया जा रहा है कि यह पुरुष संसारी जीव कुलमें मायने देहमें, योनिमें अर्थात् उत्पत्तिस्थानमें रहा करता है और जीवके स्थान हैं, उनमें मार्गणाके स्थान हैं, उनमें रहा करता है- ऐसा जानकर उनको बचाने का यत्न करें, उनकी हिंसादिक आरम्भोंको मत करें। जो इस जीवको जानकर उनके आरम्भसे हटनेका परिणाम है, इसको अहिंसाव्रत कहते हैं।

संसारी जीवोंका कुलोंमें आवास— कुल मायने देहोंके प्रकार। मनुष्य कितने प्रकारके हैं? देखते जाइए—बङ्गाली, मद्रासी, पञ्जाबी, मध्यप्रदेशी, इंग्लैंडके, अमेरिकाके, चीनके, रूसके ये सब न्यारे न्यारे हैं। सूक्ष्म रूपसे देखो तो एक ही जिलेके मनुष्योंकी शकलें अनेक प्रकारकी हैं। कैसी यह प्राकृतिकता है अर्थात् कैसी यह नामकर्मकी विचित्रता है कि यह तीन अंगुल लम्बी नाक सब मनुष्योंके मुखपर धरी है, मगर किसीकी नाकसे किसीकी नाक मिलती नहीं है। मनुष्यका परिचय पानेके लिए यह नाककी बनावट ज्यादा मदद देती है। यह बाबूजी हैं, यह लाला जी हैं, यह सेठ जी हैं, यह अमुक चन्द हैं। नाक इस शरीरके परिचयमें बहुत मदद देती है। यों ही प्रत्येक अंगकी सीमित जातियोंमें जो समताके प्रकार हैं, उन का ही नाम कुल है, उन कुलोंमें जीव रहता है।

योनिस्थानोंमें जीवोंका आवास— उत्पत्तिस्थानको योनि कहते हैं। जैसे वनस्पतियां जिस दानेसे उत्पन्न हुआ करती हैं और जिस शीतल वातावरण और गरम वातावरणको लेकर वनस्पतियां अंकुरा दिया करती हैं, उन सबका नाम है योनिस्थान। मनुष्यके योनिस्थान, पशुओंके योनिस्थान, कीड़ा मकौड़ाके योनिस्थान, देव और नारकियोंके योनिस्थान, नाना प्रकारके योनिस्थान हैं उनको जानो। दिगम्बर जैनसम्प्रदायमें एक भक्ष्य पदार्थकी सीमा बतायी गई है। बरसातके दिनोंमें चार रातका बसा हुआ आटा नहीं खाना है, तीन रात तकका बसा हुआ खा सकते हैं यानें ज्यादासे ज्यादा चार दिन चल सकता है। शीतकालमें ७ या ८ रातका बसा हुआ आटा, गर्मियोंमें ५ रातका बसा हुआ आटा चलेगा, बादमें वहां

योनिस्थान हो जाते हैं।

पूर्वजों द्वारा भक्ष्यपदार्थकी निर्णीत सीमाका समर्थन— यद्यपि कोई यह नहीं कह सकता कि तीसरी रात गुजरनेके बाद चौथी रात लग गई तो वहां बताओ कि कहां कीड़े हुए अथवा चौथी रातके सुबह कोई बता दे कि कहां कीड़ेका स्थान बना है ? ऐसी शंका करने वालेसे पूछें कि अच्छा तुम बताओ तो फिर कितने दिन बाद कीड़े उत्पन्न होनेके योग्य वह आटा बन जाएगा ? उससे ही उत्तर लेकर देखो, उत्तर मिलता है कि नहीं मिलता है ! उत्तर न मिलेगा। कितना वह बतावेगा ? जितना बतावेगा, उससे एक घण्टा पहिले परीक्षण करके बतावो कि ऐसा नहीं होता है या एक घंटा बाद परीक्षण करके बताओ। कीड़ा उत्पन्न होनेका कोई ऐसा नियत समय नहीं है कि जिसके बाद हो जिससे पहिले न हो, किन्तु कीड़ा उत्पन्न हो सकने के लायक वह आटा बन जाए—ऐसी सीमा हमारे पूर्वजोंने बतायी है। हम पूर्वजोंकी बात न मानें तो कई बातोंकी व्यवस्थायें विडम्बना बन जाएगी। बताओ कितने दिनकी बनाते हो ? तो यह सब बात ज्ञात होनी चाहिए कि अब यह आटा योनिस्थानरूप हो गया है, अब इसे न खाना चाहिए।

जीवस्थान व मार्गणास्थानोंमें जीवोंका आवास व सर्वत्र जीवस्वरूप की परख:— इसी प्रकार जीवस्थानका ज्ञान करें। जीवस्थान, जीवसमास जो बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त आदिक १४ प्रकारके बताए गए हैं, उनका ज्ञान होगा तो उनकी हिंसा बचा सकेंगे। इनसे दूर रहें, इनकी हिंसा न करें। मार्गणास्थान भी ज्ञात होना चाहिए। तो इन सब स्थानोंको जानकर फिर उसके आरम्भकी निवृत्तिका जो परिणाम होता है, उसे अहिंसाव्रत कहते हैं। इन जीवोंके भेदको जानो। देखिए, प्रयोजनभूत धार्मिक ज्ञान करनेके लिए आखिरमें सीखनेका काम १० दिनका भी नहीं है, एक घण्टेका भी नहीं है, पर हम उस धार्मिक प्रयोजनभूत विद्याको सीख सकें, उस शिक्षाकी तैयारीके लिए शिक्षणका काम वर्षों पड़ा हुआ है। जैसे आप पहिले गुणस्थान, मार्गणास्थानके भेद प्रभेदसे एक स्थान में सब स्थानोंको लेकर परिज्ञान करते हैं, कर जाइये। विदित हो जायेगा कि इस जीवकी कैसी कैसी दशाएं अन्तरमें हुआ करती हैं और बाहरमें हुआ करती हैं। बड़े विस्तारसहित इन स्थानोंका परिज्ञान कर चुकनेके बाद फिर धीरेसे थोड़ा ही समझना होगा कि इन सब स्थानोंमें जो एक आधारभूत सहजस्वरूप एक शक्ति है, उस शक्तिका नाम जीव है और जो अभी जान रहे हैं— गति, इन्द्रिय, काय, ये सब जीव नहीं हैं। उन्हें पहिले यह जीव है, ऐसा

जानना चाहिये और फिर पश्चात् यह जीव नहीं है, किन्तु इन सब स्थानोंमें एकस्वरूप जो चैतन्यस्वभाव है, वह चैतन्यस्वभाव जीव है, यह जानना चाहिये।

उपचारकथन व प्रतिबोधके उपाय पर एक उदाहरण— जैसे जिस बालकको यह नहीं मालूम है कि घरमें रक्खा हुआ मिट्टीका घड़ा जिसमें घी रक्खा है, यह वास्तवमें मिट्टीका घड़ा है। घी का नाम तो आधेयकी वजहसे लिया जाता है, परन्तु शुरूसे ही सब लोग कहते चले आये हैं कि वह घीका घड़ा है, उठा लावो तो वह उठा लायेगा। यों ही बहुतसी बातें बोलते हैं—तेलकी शीशी, पानीका घड़ा, पानीका लोटा, टट्टीका लोटा। बहुतसी बातें ऐसी होती हैं जो किसी प्रयोजनके वशसे हैं। है कुछ और उपचार किया जाता है कुछ, पर वे सब बातें परमार्थतः सत्य नहीं हैं, व्यवहारमें सत्य हैं। कोई उसी शब्दको पकड़ ले तो वह कह सकता है कि क्यों तुम झूठ बोलते हो? जैसे उस बालकको जो कि नहीं समझता है कि यह मिट्टीका घड़ा है, घी का नहीं है, उस बालकको समझानेके लिये घरका मुखिया किस तरह समझाता है, यह देखिये— देखो भाई! जो यह घीका घड़ा है ना, सो वास्तवमें घीका नहीं है। घी तो इसका आधेय है। यह वास्तवमें मिट्टीका घड़ा है। इन शब्दोंमें ही तो समझायेगा। इन शब्दोंमें सबसे पहिले क्या शब्द बोला था— "देखो जो यह घीका घड़ा है ना" इस बातको सबसे पहिले बोलना पड़ेगा, जिसका कि पहिलेसे परिचय चला आ रहा है। बादमें समझाकर उसका निषेध किया जायेगा।

व्यवहारकथन व प्रतिबोधका उपाय— यों ही यह सब जीवपरिणतियोंका विस्तार जो व्यञ्जनपर्यायरूप है अथवा विभावगुणपर्यायरूप है, पहिले इस विस्तारका स्वरूप बताना होगा कि देखो जो यह जीव है ना, सो वास्तवमें यह जीवस्वरूप नहीं है, किंतु किसी निमित्त उपाधिके संबन्धमें ऐसी ऐसी परिणतियां हुई हैं, इन परिणतियोंमें एकस्वरूप रहने वाला जो चित्स्वभाव है, वह जीव है। ऐसा समझानेके लिये शुद्ध जीवाधिकारमें इन सब कुलयोनियोंका वर्णन आया था। यह व्यवहारचारित्रका प्रकरण है। इस कारण परिणतिके समय यह सब जानना आवश्यक बताया जा रहा है कि हे मुमुक्षु जनों! तुम समझो कि जीव इन इन स्थानोंमें रहा करता है। उन स्थानोंको भेदसे जानकर उन जीवोंकी रक्षाकी परिणति होना ही अहिंसा है।

अध्यात्मदृष्टिमें हिंसाका हेतु जाननेकी एक जिज्ञासा— इस विषयमें कोई एक शंका कर सकता है कि क्यों जी! किसी कीड़ेको मार डालें तो

मरकर वह नया शरीर पा लेगा, उसका बिगाड़ क्या हुआ? अरे! उस कीड़ेका वह बूढ़ा शरीर अब नहीं रहा, अब उसे नया शरीर मिल गया। नये शरीरका रंग-ढंग अपूर्व ही होता है। बिगाड़ क्या हुआ कीड़े मकौड़े मार डालनेसे? हां उन्हें दूसरा शरीर न मिले, दूसरा शरीर पानेके लिये तड़फड़ाते रहें तो हमें दोष देना ऐसी कोई शङ्का कर सकता है। यह शङ्का उसकी आध्यात्मिक क्षेत्रमें है, इसी लिये समाधान भी आध्यात्मिक दृष्टि से लें।

अध्यात्मदृष्टिसे हिंसाके हेतुका प्रकाशन— देखिये यह जीव अनादि कालसे निगोद जैसी निकृष्ट अवस्थामें निवास करता आया है। वहांसे निकला तो कुछ मोक्षमार्गके लिये कुछ प्रगतिकी बात आयी। यद्यपि मोक्ष-मार्गका प्रारम्भ संज्ञीपञ्चेन्द्रिय जीवसे ही होता है, और कहीं मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं होता, किंतु संसारमहागर्तसे, निगोददशासे निकलकर यदि वह दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव बना तो कुछ तो उसकी प्रगति हुई। अब देखिये किसी कीड़ेको मारा व मसला तो ऐसी स्थितिसे मरने वाले कीड़ेको अधिक संक्लेश प्राप्त होगा। यह बात तो सत्य है ना; जिस कीड़ेको पीटा जाये व मसला जाये तो उसके संक्लेश तो अधिक होगा। मानों वह तीनइन्द्रिय कीड़ा है और वह अधिक संक्लेशसे मरा तो मरकर वह एकेन्द्रियका शरीरका पायेगा, निम्न गतिमें जायेगा। तो देखो ना कि इतनी प्रगतिका जीव जरासे तुम्हारे निमित्तसे इतनी प्रगतिसे लौटकर फिर अवनतिमें चला गया तो बताओ ऐसी अवनतिके भवमें पहुंचना यह जीव का बिगाड़ है ना? इस आध्यात्मिक दृष्टिसे भी जीवकी हिंसा करना जीव पर अन्याय करना है।

आन्तरिक और व्यावहारिक अहिंसापालनका कर्तव्य— व्यवहारमें निर्दयताका परिणाम आये बिना, खुदगर्जीका परिणाम हुए बिना जीवोंकी हिंसामें यत्न नहीं होता। इसलिये उस हिंसाका परिहार करनेके लिये हमें सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। जिसके बाह्यहिंसाका त्याग नहीं है, वह आन्तरिक हिंसाके त्यागका पात्र नहीं होता है। ऐसे ही जिसके बाह्यचारित्र नहीं होता है, उसके आन्तरिक चारित्र भी नहीं होता है। जैसे जिसके बाह्यपरिग्रहका त्याग नहीं होता है, उसके आन्तरिक परिग्रहका भी त्याग नहीं होता है। इस कारण हम यथाशक्ति आन्तरिकस्वच्छता सदाशय रख कर आन्तरिकअहिंसाकी वृद्धिमें और बाह्यषट्कायके जीवोंका घात न कर के व्यवहारअहिंसामें प्रयत्नशील रहें।

हिंसाका वास्तविक कारण— हिंसा होनेमें कारण अपना परिणाम

है। जिसका परिणाम प्रमादग्रस्त है, अज्ञानमय है, कषायमय है उसके द्वारा कदाचित् किसी जीवका घात भी न हो तो भी हिंसा लगती रहती है और जिस महाभाग ज्ञानीसंतके परिणामोंमें निर्मलता है, जीवकी हिंसाका भाव ही नहीं होता और चलते फिरते बैठते आदि प्रवृत्तियोंके समय सावधानी रहती है, उसके पैर आदिकके द्वारा कोई कुन्थु जीव मर भी जाय तो वहां हिंसा नहीं होती है। द्रव्यकर्म आत्माके परिणामोंका निमित्त पाकर बंधा करता है। शरीर वचन, कायकी चेष्टाके कारण नहीं बँधा करता है। इस कारण हिंसापरिणाम हो तो हिंसाका बंध हुआ करता है।

हिंसाका अनन्वय— कुछ लौकिक दृष्टान्त लो। एक डाक्टर किसी मरीजका आपरेशन कर रहा हो, डाक्टर भी बड़ा भला ईमानदार रुग्णकी रक्षाका परिणाम वाला हो, आपरेशन करता है, कदाचित् उस प्रक्रियामें रोगीकी मृत्यु हो जाय तो न वहां हिंसाका बंध हुआ और न लोकमें कोई उसे हिंसक कहता है और एक शिकारी जंगलमें गया, किसी पशु पर या पक्षीपर उसने गोली तानी, उससे पहिले ही वह भाग गया, बच गया, तो यद्यपि जीवका घात नहीं हुआ तथापि उस शिकारीको हिंसाका बंध हो गया।

हिंसक एक, बन्धक अनेक— देखो परिणामोंकी विचित्रता कि कोई एक जीव तो हिंसा करता है और हिंसाका बंध बीसों मनुष्य कर लेते हैं। किसी ने कोई बड़ा सांप मार डाला है, अब उसको देखने के लिए बीसों आदमियोंका ठट्ठ जुड़ जाता है और वे शाबासी देते हैं वाह किसने मारा, अच्छा मारा। तो द्रव्य हिंसा की केवल एक पुरुषने किन्तु उस हिंसाके निमित्तसे बंध हो गया बीसों पुरुषोंको।

हिंसासे भी पहिले हिंसाफलकी प्राप्ति— देखो—हिंसा करने से पहिले भी हिंसाका फल मिल जाय ऐसी भी स्थिति होती है, हिंसा करे वह पीछे और उसका फल मिल जाय पहिले। किसी मनुष्यने किसी मनुष्यको या किसी जीवको मारनेका संकल्प किया और मारने के घातमें रहने लगा और मौका नहीं मिल पाता है। उसको मार नहीं पाता है। २०, २५ वर्ष बाद जब उस मनुष्यको मारनेका मौका मिला तो उसने उस की जान निकाल दी तो हिंसा तो की २५ वर्ष बाद, मगर २५ वर्ष पहिले ही उसके घातका इरादा होने के कारण कर्म बंध गया और कहो ४, ६ वर्ष बाद ही उस कर्मका फल भी भोगले। हिंसा की बादमें और जिसकी हिंसा की उसकी हिंसाके परिणामके कारण कर्मबंध पहिले हो गया और उसका फल भी पहिले मिल गया, हिंसा बादमें हुई।

हिंसक अनेक वन्धक एक— कहो अनेक जीव हिंसा करें और फल एक जीव ही पाये, ऐसी भी स्थिति होती है। जैसे युद्धमें सेनाके द्वारा लाखों आदमियोंकी हिंसा हुई किन्तु हिंसाका बंध हुआ उस एक राजाको। उस राजाके हुक्मसे ही सेनाने अपनी ड्यूटी पूरी की। हिंसाका कारण परिणाम है। इसी वजहसे किसी जीवकी मृत्यु हो अथवा न हो, जिसको जीवघात से दूर रहनेका परिणाम नहीं है उसके पापोंका परिहार नहीं हो सकता है।

प्राणघातसे जीवहिंसा होनेके विषयमें एक चर्चा— यहां आप लोग युक्तिवलसे एक शंका कर सकते हैं कि यह बतलावो कि जीवके प्राण जीव से न्यारे हैं या एकमेक हैं? यदि जीवके प्राण जीवसे न्यारे हैं तो प्राणोंका घात करें खूब, क्या है, जीव तो जुदा है, जीवका तो कुछ बिगड़ता नहीं। जीवसे जुदा जो पदार्थ है उस पदार्थके विध्वंस करनेमें जीवकी हानि क्या है? और जीवके प्राण यदि जीवमें एकमेक हों, जीवसे न्यारे न हों तो जीव तो अमूर्त है—प्राणघात करें जीवका क्या हर्ज है? न जाने क्या हो गया, जीवका तो घात नहीं हुआ तो उसमें हिंसा न लगनी चाहिए। फिर हिंसा कहां हुई? उसका समाधान यह है कि द्रव्यदृष्टिसे, निश्चयदृष्टि से तो जीवके प्राण जीवसे न्यारे हैं। जीव ज्ञानानन्दस्वरूप है और ये प्राण ५ इन्द्रियां, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये परभाव हैं, विकार है परद्रव्य हैं, ये जीव कैसे हो सकते हैं? इस कारण जीवके प्राण निश्चय से जीवसे न्यारे हैं, किन्तु व्यवहारदृष्टिसे जीवके प्राण जीवसे न्यारे नहीं हैं। इस कारण प्राणघातमें जीवहिंसा हुई।

व्यवहारहिंसासे हानि पर शंकासमाधान— इस पर शंकाकार यह बात रख सकता है कि निश्चयसे जब जीवके प्राण जीवसे न्यारे हैं तो निश्चयसे तो हिंसा नहीं हुई। व्यवहारसे जीवके प्राण जीवमें एकमेक हैं तो व्यवहारसे ही हिंसा हुई। उसका भी समाधान यह है कि तुम ठीक कह रहे हो। हमें मंजूर है निश्चयसे जीवकी हिंसा नहीं हुई है और न प्राण ही हैं तब निश्चयसे प्राणघात नहीं हुआ है, व्यवहारसे जीवकी हिंसा हुई है, क्योंकि निश्चयसे तो प्राण है ही नहीं, घात ही क्या हुआ, हिंसा भी कहां हुई? व्यवहारसे हिंसा हुई है, किन्तु इतनी बात सुनकर मनमें यह हर्ष न मानना कि बड़ा अच्छा हुआ। हिंसा व्यवहारसे होती है, वस्तवमें तो हमें हिंसा नहीं लगती। अरे हिंसा भी व्यवहारसे होती है और नरकादिक के दुःख भी व्यवहारसे ही होते हैं। निश्चयसे तो जीवका अविनाशी शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। तुमको व्यवहारका दुःख पसंद है क्या? यदि व्यवहार

के दुःख पसंद हों तो व्यवहारकी हिंसा करते जाइए, और यदि व्यवहार के दुःख पसंद न हों तो व्यवहार हिंसा छोड़ दीजिए।

आत्महिंसा— अपने आपके उपयोग को इस अहिंसास्वभावी शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वमें न लगाना और इसको छोड़कर अन्य असार अहित भिन्न परवस्तुवोंके उपयोगमें फंसाना यह अपने आपकी हिंसा है। वस्तुतः कोई जीव किसी दूसरेकी हिंसा नहीं करता है, किन्तु अपने आप की हिंसा करते हुए उस पर वस्तुका आश्रय मात्र होता है। हिंसा तो खुद खुदकी ही किया करते हैं। किसीने किसी जीवको मार डाला तो उसे जो हिंसा हुई है वह परजीवके प्रति निर्दयता के दुष्ट आशयके परिणाम बनाने के कारण हुई है। दूसरे जीवके प्राण अलग हुए हैं इसके कारण नहीं हुई है किन्तु यहां यह नहीं सोचना है कि दूसरोंके घातसे तो वास्तवमें हिंसा ही नहीं होती तब स्वच्छन्द रहें। जीव जब अपने परिणामसे अपने आपके हिंसक हुआ करते हैं तो जीवमें हिंसापरिणाममें परजीव परपदार्थका आश्रय होता है, और जिसके हिंसाका परिणाम नहीं है उसके द्वारा परजीवका घात नहीं हुआ करता है।

महती हिंसा— सबसे बड़ी हिंसा है अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ और मिथ्यात्व ये परिणाम इस जीवकी प्रबल हिंसा है। मिथ्यात्व नाम अज्ञान भावका है। अपने आपके स्वरूपका पता न रहे ऐसे अंधकारमें इस आत्मप्रभुकी निरन्तर हिंसा हो रही है। पर इस अज्ञानीको अपने आपकी बरबादीका ध्यान ही नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक मिथ्यात्व अजीर्ण मिटे बिना अहिंसा आरोग्यका अभाव— जैसे जब पेटकी खराबीके कारण सिरदर्द होता है तो कोई अमृतांजन लगाता, कोई अमृतधारा लगाता, कोई लौंग बांटकर लगाये, कोई सरसों बांटकर थोपे, पर वह तो यह अनुभव करता है कि क्या होता है इन दवाइयों से ? जब तक पेटकी खराबी न मिटेगी तब तक सिरदर्द नहीं मिटेगा। थोड़ी-थोड़ी चिकित्सावोंसे मनमें कल्पनामें थोड़ा शांतिका अनुभव होता है पर थोड़ी ही देर बाद फिर वही की वही वेदना। यह तो मनकी कल्पना है। कोई आदमी १० मिनटसे सिर दाब रहा हो, बड़ा श्रम कर रहा हो और कोई पूछे कि भाई कुछ दर्द कम हुआ कि नहीं ? चूँकि उसकी दृष्टि इस ओर है कि यह १० मिनटसे मेहनत कर रहा है सो वह कहता है कि मुझे दर्द कम मालूम होता है, किन्तु अजीर्णसे उत्पन्न हुई शिरोवेदना तो इन दवावोंसे न मिटेगी। यों ही समझिये कि जब तक

इस जीवमें मिथ्यात्वका अजीर्ण चल रहा है और उसके कारण जो कुछ लौकिक वेदनाएं हो रही हैं उन लोकवेदनावोंका इलाज यह जीव विषय-सेवनसे, विषयरसपानसे, यहां वहां की थोती बातोंसे, धन वैभवके संचय से नाना उपायोंको करता है किन्तु इसका क्लेश तो मोक्षस्वरूप नहीं है। थोड़ी शांति समझते हैं किन्तु फिर ज्योंका त्यों दुःखी। तो जब तक वह मिथ्यात्वका अजीर्ण न पचेगा तब तक संसारके क्लेश दूर नहीं हो सकते यह मिथ्यात्व है स्वयंकी हिंसा।

अनन्तानुबन्धी क्रोधसे आत्महिंसा— अनन्तानुबन्धी क्रोध उसे कहते हैं जो मिथ्यात्वका पोषण करे, सम्यक्त्व ही न होने दे। इस क्रोधमें अपने आपके स्वरूपकी रञ्च खबर नहीं रहती है। अपने आपसे यह जीव विमुख रहता है। यह जीव कितना अपने आप पर क्रोध किये जा रहा है? यह अपने आपकी कितनी बरबादीका काम है? वह पुरुष महाभाग है जिसको अपने आपके स्वरूपका भान रहता है। दूसरोंकी गालियां सुनकर हंस सके, समझ सके, यह अज्ञानकी चेष्टा है। इस चेष्टाका मुझमें प्रवेश नहीं है—ऐसा दृढ़ आत्मबल कर सके, वह महाभाग अभिनन्दनीय और पूज्य है।

अनन्तानुबन्धी मानसे आत्महिंसा— अनन्तानुबन्धी मान, घमण्ड का परिणाम ऐसा यत्न है जिसमें अपने आपके स्वरूपकी सुधबुध ही न रहे। एकदम बाह्यमें दृष्टि है, सब लोग तुच्छ हैं, कुछ नहीं जानते हैं, इनमें हम कुछ विशेष हैं, उत्तम कार्य किया करते हैं, अपनेको बड़ा मानना और दूसरोंको तुच्छ समझना—ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है, उसने अपने आपके स्वरूपका अपमान किया है। दूसरोंका अपमान करना, अपने स्वरूपका अपमान है। जीवनमें यह गुण तो अवश्य लाओ कि जितना बन सके हम दूसरोंका मान ही रक्खा करें, सम्मान ही रक्खा करें, अपमान कभी न करें। निश्चयसे समझिये कि जिस दुष्टपरिणामके कारण दूसरोंका अपमान कर दिया जाता है, वह परिणाम इसके स्वरूपका बाधक है। मान न कर सकें तो अपमान भी न करें।

अनन्तानुबन्धी मायासे आत्महिंसा— अनन्तानुबन्धी माया—ओह, कितनी टेढ़ीमेढ़ी चित्तवृत्ति है कि यह उसे चैन लेने ही नहीं देती है। यत्र तत्र विकल्पजाल मचा करते हैं। मायाचारी पुरुष कभी आरामसे रह नहीं पाता है। बहुत दुष्ट वृत्ति है। अपनी सही वृत्ति रखो, सीधा साफ काम रक्खो। अनन्तानुबन्धी मायाने इस प्रभु आत्मदेव पर महान् प्रहार किया है। यह विश्राम पानेके योग्य भी नहीं रहता है।

पुस्तक है तुम्हें कैसे दे दें ? यदि यह परिणाम आ जाय थोड़ा तो उसके साधुता नहीं रहती, परिग्रहका दोष आ जाता है।

अहिंसाधर्मका जयवाद— परसे विरक्त, अध्यात्मयोगी, ज्ञानी संत अहिंसाकी मूर्ति कहलाता है। हे प्रभो! आपने यही पंथ अपनाया था। यह पथ, यह अहिंसापथ त्रस घातके अंधकारसे दूर है। सर्व जीवोंको सुखदायी है, स्थावरके वंधसे भी निवृत्त है, आनन्द अमृतसे भरा हुआ है, इसी परिणामका नाम है जैनधर्म। शुद्ध परिणामोंको जैनधर्म कहते हैं। यह धर्म, यह अहिंसा महाव्रत सदा जयवंत हो।

पूर्ण अहिंसक व एकदेश अहिंसक— अहिंसा महाव्रत चारों प्रकार की हिंसावोंका सर्वथा त्याग करने पर होता है। ये चार हिंसाएँ हैं संकल्पी हिंसा, उद्यमी हिंसा, आरम्भी हिंसा और विरोधी हिंसा। इन चारों हिंसावोंका पूर्णरूपसे त्याग साधुवोंके हो जाता है। इन चार हिंसावोंमें से गृहस्थ संकल्पीहिंसाका सर्वथा त्यागी हो सकता है। शेष तीन हिंसावोंका त्याग तो उन गृहस्थोंमें जैसा पद हो, जैसा वैराग्य हो उसके अनुसार हुआ करता है।

संकल्पी हिंसा— संकल्पी हिंसा कहते हैं इरादतन जीवोंका घात करना, शिकार खेलना, किसी दूसरे को सताना, पीड़ा पहुंचाना, जीव हत्यायें करना, ये सब संकल्पी हिंसायें हैं। कषाईखाना खोलना, हिंसाका रोजगार रखना, कोई डाक्टरी सीखने के लिए मेढक वगैरह चीरना—ये सब संकल्पीहिंसामें हैं। वैसे कुछ लोग यह कहते हैं कि उसमें तो उद्यमी हिंसा होनी चाहिए, क्योंकि आगे उद्यम करेंगे, डाक्टरी सीखेंगे, पैसा आयेगा, तो यह उद्यमी हिंसा होनी चाहिए, किन्तु भैया! उद्यमी हिंसा कहते उसे हैं कि हिंसा बचाते हुए, साक्षात् हिंसा न करते हुए उद्यम करे और फिर उस उद्यममें हमारे बिना जाने जो हिंसा हो जाय वह उद्यमी हिंसा है। यदि इस मेंढक आदि चीरने को उद्यमीहिंसा कहने लगें तो कषाईखाना खोलना, जीवघात करना इसे क्यों न उद्यमीहिंसामें माना जाय ? यह सब संकल्पीहिंसा है।

संकल्पीहिंसाका त्यागी श्रावक— श्रावक इरादतन संकल्पीहिंसा को नहीं किया करते हैं, ऐसी परिस्थिति है कि चाहे कितना भी लाभ होता हो, उस लाभमें लोभित होकर श्रावक संकल्पी हिंसा नहीं करता। एक बारकी घटना है टीकमगढ़की। राजाने सुना कि जैनी पुरुष हिंसा नहीं किया करता, वह बलि नहीं करता है, चींटी तकको भी नहीं मारता। एक बार वहीं टीकमगढ़का राजा बग्घी पर सवार हुए चला जा रहा था।

रास्तेमें कोई जैन मिला। पास ही एक बकरी जा रही थी। तो राजाने कहा ऐ भाई ! उस बकरी को पकड़कर यहां ले आवो। वह उस बकरी को पकड़ कर ले आया। राजा ने कहा कि लो यह छुरी है, इस बकरीको अभी काट दो। तो उसने छुरी नहीं ली और राजाके मुकाबले डटकर खड़े होकर कहा कि राजन् यह काम तो एक जैनीसे नहीं हो सकता है, चाहे कुछ भी दण्ड दें, किन्तु जैनी से छुरी नहीं उठ सकती है किसी जीवको मारनेके लिए। तो वह प्रसन्न हुआ और कहा कि ठीक है, जैन श्रावक बड़े दयालु होते हैं।

उद्यमीहिंसा-- दूसरी हिंसा है उद्यमीहिंसा। उद्यम कर रहे हैं। उद्यम वह करना चाहिए जो हिंसा वाला उद्यम न हो। जैसे जूतोंकी दुकान, घी की फर्म, शक्करकी दुकान, हलवायी की दुकान, यहां तक कि लोहे तकका काम भी उसीमें शामिल सुना गया है। तो कुछ रोजगार जो हिंसाकारक हैं उनको करना नहीं, जो सही रोजगार हैं उन्हें करें और उसमें भी जीवोंकी रक्षाका यत्न बनाये रहें, फिर भी कदाचित् कोई जीव मर जाय तो वह उद्यमीहिंसा कहलाती है।

आरम्भी हिंसा-- तीसरी हिंसा है आरम्भी हिंसा। रोटी बनातेमें चक्की चलातेमें, कूटने में, पानी भरनेमें जो घर गृहस्थीके कार्य हैं उनमें सावधानी रखते हुए भी कभी किसी जीवकी हिंसा हो जाय तो वह है आरम्भी हिंसा।

चौथी हिंसा है विरोधी हिंसा। कोई सिंह, कोई दुष्ट डाकू आदिक अपनी जान लेने आये या अपना सर्वस्व धन लूटने आये या अपने आश्रित अन्यजनों पर कोई आक्रमण करे तो उसका मुकाबला करनेमें यदि उसकी हिंसा भी हो जाय, घात हो जाय तो उसे विरोधी हिंसा कहा गया है। बिना प्रयोजन सांप, बिच्छू, ततैया इनको मार डालना यह विरोधी हिंसा नहीं है, यह तो संकल्पी हिंसा है। साधुजन चारों प्रकारकी हिंसावोंके त्यागी होते हैं। गृहस्थजन एक संकल्पीहिंसाके तो त्यागी होते ही हैं-शेष तीन हिंसावोंके वे यथापद, यथा वैराग्य त्यागी हुआ करते हैं।

हिंसारहित भोजनकी भक्ष्यता- भैया ! भोजन विधिमें सबसे प्रधान लक्ष्य रक्खा जाता है कि जीवहिंसा न हो। देख भाल कर चौका धोना और सब चीजें मर्यादित शुद्ध होना, दिनमें ही बनाना, दिनमें ही खाना--ये सब अहिंसाकी प्रवृत्तियां हैं। कोई मनुष्य चीज तो अशुद्ध खाये और उस अशुद्ध चीजके खानेके पापको छिपानेके लिए छुवाछूत अधिक बढ़ा दे तो वह धर्मविधिमें योग्य नहीं कहा है। छुवाछूतकी सर्वाधिक

बीमारी उस देशसे शुरू होती है जहां ऐसे विशिष्टजातिके लोग हो गए जो मांसभक्षण खूब करते हैं और मछलियां या मांसादिक रसोईमें बनाते हैं और खाते हैं और करते क्या हैं कि उस रसोई पर किसी मनुष्यकी छाया भी पड़ जाय तो कहते हैं कि नापाक हो गया है। बहुत बचते हैं। सर्वाधिक छुवाछूत उनमें हैं जो अभक्ष्य खाते हैं और बचते बहुत हैं। हालांकि बचना चाहिए, स्वच्छन्द न होना चाहिए। छुवाछूत भी भोजनके प्रकरणमें कुछ दर्जे तक ठीक ही है, किन्तु उससे अधिक दृष्टि डालनी चाहिये भोजनकी शुद्धतामें। जिसमें हिंसा न हो, भक्ष्यपदार्थ मर्यादित हो वह भोजन युक्त है।

रात्रिभोजनत्यागकी प्रधानता— साधुव्रतमें कहीं कहीं ६ व्रत लिख दिये गये हैं। ५ तो ये महाव्रत और एक रात्रिभोजन त्याग, यह साधुओंके लिये लिखा गया है। वहां ऐसी शंका नहीं करनी है कि रात्रिभोजन त्याग साधुओंके लिये बताया है तो उससे पहिले रात्रिभोजन श्रावक करते होंगे। तो यह मंशा नहीं है। कोई भी मनुष्य श्रावक हुए बिना, प्रतिमा धारण किए बिना सीधा भी साधु हो सकता है। ऐसे साधु पुरुषोंको उनकी चर्या बतानी है तो ५ महाव्रतोंके साथ रात्रिभोजन त्याग भी षष्ठव्रत बताया है। रात्रिभोजनका जहां त्याग नहीं होता, वहां अहिंसाव्रतकी पूर्ति नहीं हो सकती।

रात्रिभोजनत्यागके लाभ— रात्रिभोजनत्यागमें अनेक गुण हैं। पहिली बात तो वैद्य लोग जानते होंगे कि ये स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है। रात्रिके समय में भोजनमें भी कुछ ऐसी त्रुटि आ जाती है प्रकृत्या कि वह सुपच नहीं होता है। दूसरे रात्रिके भोजनके बाद सोनेका समय जल्दी आ जाता है, इस कारण भी सुपच नहीं होता। और मुख्य बात तो यह है कि रात्रिमें जीवोंका संचार अधिक होता है, दिनके प्रकाशमें नहीं होता। कोई बादल भी छाया हो तो भी जो बचा हुआ प्रकाश है, उस प्रकाशमें भी जीव नहीं होते और रात्रिमें जीव बहुत उड़ते हैं। रात्रिमें उजेला करो तो जीव-राशि वहां और अधिक आ जाती है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा लाभ एक और भी यह है कि जिसके रात्रिभोजनका त्याग है, उसे रात्रिके समय धर्मध्यान करनेके लिये अधिक अवसर मिल सकता है। अब जो रात्रिको व्यालू करते हैं उनका दिन भी झंझटमें गया और रात्रिका भी बहुभाग झंझटमें चला जाता है। आप देखो ना कि शामके समय शास्त्रसभा होती है या कोई धर्मसभा होती है तो जैनोंको अड़चन नहीं मालूम होती है, क्योंकि रात्रिमें खाते ही नहीं। उन्हें कुछ नहीं सोचना पड़ता है। आये

और सभामें शामिल हो गये। यदि रात्रिमें खाते होते तो रात्रिका टाइम बदलते या प्रार्थना करते कि महाराज १० बजेका टाइम रक्खो। कितने ही गुण हैं रात्रिभोजनत्यागसे। फिर एक मनकी शुद्धता बढ़ती है। इससे यह बहुत डटकर कहा गया है कि अहिंसाव्रत पालन करने वालेको रात्रिका भोजनका त्याग तो होना ही चाहिये। अब बतलाओ कई सम्प्रदायोंमें साधु और संन्यासी तो हो जाते हैं और रात्रिकी व्यालू चलती है। तब बतलाओ अहिंसाव्रत कहां पला? अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिये रात्रिभोजनका त्याग होना अत्यन्त आवश्यक है।

बेकारीमें हिंसाभावकी प्रचुरता— एक और बहुत कर्तव्य वाली यह बात है कि जिसको अपने परिणाम निर्मल रखने हों और परिणामोंकी निर्मलतामें ही अहिंसाव्रत पलता है—ऐसे पुरुष अपने पदके अनुसार अहिंसाका बचाव करते हुए किसी न किसी कर्तव्य कार्यमें लगे रहें। बेकारोंसे बढ़कर दुश्मन और कोई नहीं होता। नीतिकारोंने कहा है कि 'को वैरी? नन्वनुद्योगः।' वैरी कौन है? जो कोई उद्योग न करे। बेकारी में आत्मघातक हिंसापरिणाम बहुत होते हैं।

व्यावहारिक कर्तव्यका पालन— अभी गृहस्थश्रावक धर्मके नामपर त्यागव्रत तो ले लें और जहां तक उनका परिणाम विशेष निर्मल होनेका पद नहीं है, परिग्रहका जहां त्याग नहीं है, परिग्रहका संबन्ध है और उद्योग छोड़ दें, कमाई छोड़ दें समर्थ होते हुए भी, तो ऐसे पुरुषोंके परिणामोंमें निर्मलता नहीं जगती, क्योंकि बेकार हैं तो पचासों कल्पनाएं जगती हैं और विवाद हो जाते हैं, विडम्बनाएं हो जाती हैं। बेकार रहते हुएमें पचासों विसम्वाद हो जाते हैं और फिर देखो कि ७-८ प्रतिमा तक तो उन का यह नियम है कि मुनि क्षुल्लक आदि किसी पात्रको प्रतिदिन भोजन कराकर ही भोजन करेंगे, यह उन्होंने व्रत लिया है। बारह व्रतोंमें अतिथिसम्विभाग व्रत भी है। तो व्रत तो ले लिया और जीवनभर पले नहीं तो ऐसी दिशा क्यों अपनाई जाती है? दूसरी बात है कि जिसने शुद्ध खानेका नियम लिया और साधुओंको आहार कराकर ही खानेका नियम किया, वे तो एक दिन भी साधुकी पूछ नहीं कर सकते, समाज पर भारभूत बन जाते और शेष आदमी जो अव्रती हैं, जिन्हें शुद्ध भोजनकी आदत भी नहीं है और कभी बनाएं तो अड़चन पड़ जाये तो बताओ व्यवहारतीर्थ पर कुल्हाड़ी चलाई या नहीं? खूब सोचनेकी बात है।

परिग्रहत्यागप्रतिमासे पहिले जीवनोपयोगी कर्तव्य— कायदेकी बात यह है कि घरमें ही रहें, उद्यम करें, कमायें और खायें। जो कुछ

कमायी हातो हो उसीमें गुजारा चलायें। जब तक परिग्रहका पूर्णत्याग न हो जाये, ९ वीं प्रतिमा जब तक नहीं हो जाती है, तब तक निःशंक होकर मनमें निर्णय रखकर परघरका भोजन नहीं बताया गया है। कोई निमन्त्रण करे भक्तिपूर्वक तो वह बात अलग है, पर जो अपने उद्देश्यमें कोई भोजन बनाना रखे ही नहीं है, उसका निमन्त्रण ही क्या ? निमन्त्रण उसका होता है कि यदि कोई निमन्त्रण न करे तो वह रसोई बनाना शुरू कर दे। निमन्त्रण उनका हुआ करता है, जिनका निमन्त्रण न करने पर फिर आपको भोजन करानेके लिये वह पात्र न मिल सके, वह अपना भोजन बनाना शुरू कर दे।

कितनी ही बातें ऐसी हैं कि जो एक बहुत मर्मको लिये हुए हैं। कैसे परिणाम निर्मल रख सकें, किस पदमें क्या करना चाहिये ? पदसे बहुत आगे बढ़कर बात यदि छोटे पदमें की जाती है तो उसका भी परिणाम ठीक नहीं निकलता और जिस पदमें हैं, उस पदके योग्य कर्तव्य नहीं किया जाता तब भी उसका परिणाम ठीक नहीं निकलता। गृहस्थ संकल्पी हिंसाका सर्वथा त्यागी है। शेष तीन हिंसाओंका यथापदमें वह त्यागी हुआ करता है।

असत्यवादनमें हिंसा— भैया ! अहिंसाको देवता बताया है और पूछो तो धर्म एक है अहिंसा। पाप एक है हिंसा। पाप ५ नहीं हैं। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये भी हिंसामें आते हैं, किंतु लौकिक जनोंको शीघ्र समझानेके लिये भेद करके ५ कह दिये गये हैं। अन्यथा देख लो कि कोई झूठ बोलता है, निंदा करता है, झूठी गवाही देता है तो उसने हिंसा की है या नहीं, बताओ ? हिंसा हुई। अपना परिणाम बिगाड़ा और दूसरेको क्लेश उत्पन्न करनेका निमित्त बना। झूठ बोलना हिंसा है, इसलिये झूठ पाप है। यदि हिंसा न हो तो झूठ पाप नहीं है। पर क्या है कोई ऐसा झूठ कि जिसके बोलने पर हिंसा न हो ? कदाचित् ऐसा भी झूठ बोलनेमें आये कि किसी भी जीवका उसमें नुक्सान नहीं है। जीवका घात बच जाता है तो ऐसा झूठ बोलना भी पापमें शामिल नहीं किया गया है। मर्म जानना चाहिये, मर्म है अहिंसा।

चौर्यप्रवृत्तिमें हिंसा— चोरी भी हिंसा है। अन्तरंग पाप तो यहां अपने परिणाम अपने स्वरूपसे विपरीत बनायें और फिर जिसके धनको हरा, उसको कितनी चोट पहुंचायी, उसे कितना संक्लेश करना पड़ा ? चोरी भी कितना पाप है ? चोरीसे हिंसा हुई, इस कारण पाप है। कोई कहे कि अच्छा हम ऐसी चोरी करते हैं कि जिसमें हिंसा न हो। तो ऐसी

कोई चोरी ही नहीं है कि जिसमें हिंसा न लगे। शायद चीज चुराने वाले लोग सोचते होंगे कि हम तो सचाईसे रहते हैं, हिंसा हम नहीं करते। बताओ किस जीवका हमने घात किया, किंतु चोरी करते हुएमें जो परिणामोंमें मलिनता आई, शंका हुई, भय बना, यही तो हिंसा है। कुत्ता यदि रसोईघरमें से दो रोटी छिपकर चुरा लाये तो उसकी सूरत देखो कि कैसी हो जाती है? पूँछ दबाकर रोटीको मुखमें रखकर चुपके से निकल जाता है है और अकेलेमें जाकर खाता है। किसी कुत्तेको आप बुलाकर दो रोटियां दे दें तो पूँछ हिलाकर जरा प्रेम जाहिर करके निर्भयतासे बड़े आरामसे खाता है। तो इस बातको समझने वाले तो जीव-जन्तु भी हैं। क्या हम नहीं जानते हैं कि अमुक काममें पाप है। पाप केवल हिंसाको कहते हैं। हिंसा हो तो वह पाप है। चोरीमें भी हिंसा है—अंतरंग हिंसा और बहिरंग हिंसा।

कुशीलसेवनमें हिंसा— कुशीलसेवन भी पाप है, क्योंकि इसमें भी हिंसा है। अंतरङ्गहिंसामें तो अपने स्वरूपको भूल गया, धर्मकर्मकी बातको भूल गया और एक मलिन आशयमें आ गया, सो यह अंतरङ्गहिंसा तो हुई किन्तु उस कुशीलसेवनमें एक बारके सेवनमें बताते हैं कि न जाने कितने लाख जीवोंका विध्वंस हो जाता है? द्रव्यहिंसा भी वहां यह हुई। दूसरा कोई नाक छिनके तो कितना बुरा लगता है और अपनी नाकको खुद छिनके तो अपनेको उतना बुरा न लगेगा, क्योंकि वह अपनी वासना से अटकी हुई बात है। निष्पक्षतासे कोई देखे तो स्त्रीसेवनमें कितनी मलिनता, गन्दगी, अपवित्रता है; हिंसाकी बात तो अलग है। न जाने कितनी हिंसा होती है और फिर घण्टों मूरख बनकर भी तो रहते हैं। कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं है, मूढ़ बन जाते हैं, परस्परमें अटपट वचनालाप होने लगता हैं, विवेक उसमें कुछ नहीं रहता है। वहां तो हिंसा ही हिंसा है।

परिग्रहतृष्णामें हिंसा— परिग्रहका लोभ—इसको तो कहते हैं कि लोभ पापका बाप बखाना। यह तो हिंसा है ही कि रात दिन परिणाम मलिन होते हैं, आत्मासे विमुख रहते हैं। इतना जोड़ना है, जोड़ते हुए यों ही गुजर जाते हैं।

चार चोर कहींसे दो लाखका माल चुरा लाये और रातके तीन बजे एक जगह जंगलमें जा बैठे। सलाह की कि जिन्दगीमें यह पहिला ही मौका है जो इतना धन हाथ लगा है, अब तो सारी जिन्दगी सुखसे ही कटेगी। एक काम करें कि पहिले दो जने चले जाओ शहर और बढ़िया

मिठाई लाओ, खूब खावेंगे। जब छक जायेंगे तब फिर आनन्दसे इस धन को बांटेंगे। दो आदमी गये मिठाई लेने, दो रह गये धनकी रक्षा करने को। अब मिठाई लाने वालोंके मनमें आया कि हम ऐसा करें कि इस मिठाईमें विष मिला दें, वे दोनों खाकर मर जायेंगे, फिर हम दोनों प्रेमसे एक एक लाख बांट लेंगे। इधर धनकी रक्षा करने वालोंने सोचा कि अपन दोनों ऐसा करें कि उनके आने पर दोनोंको बन्दूकसे मार दें, फिर अपन एक एक लाख रुपये बांट लेंगे। अब वे विष मिलाकर मिठाई लेकर आये, तो दोनोंको दूरसे ही बन्दूकसे मार दिया। वे दोनों तो मर गये। अब वे दोनों पहिले प्रेमसे लाई हुई मिठाईको खाने लगे, दोनों मिठाई खाकर मर जाते हैं और सारा धन वहीं पड़ा रह गया। परिग्रहमें परिणाम कितने मलिन होते हैं?

अहिंसाब्रह्मकी उपासना समृद्धिलाभका अमोघ उपाय-- ये सर्वपाप हिंसामयी हैं, आपको नहीं दिखता है ऊपरसे। आप तो जानते हैं कि हम सोना, चांदी, रत्न, जवाहरात इनका रोजगार कर रहे हैं। ठीक हैं, करते हो, करना चाहिये, पर तृष्णामें डूबना और उसके ही स्वप्न रात दिन बनाये रहना यह तो इसकी साक्षात् हिंसा हो रही है। व्रत है तो एक अहिंसाका। धर्म है तो एक अहिंसाका। इस अहिंसाको ब्रह्म संज्ञा दी है। अहिंसा ब्रह्म है, इस अहिंसाका आदर किये बिना, इसकी उपासना किये बिना, यथाशक्ति अहिंसापथ पर चले बिना इस जीवको शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। इस कारण सर्व यत्न करके इस अहिंसाव्रतका पालन करें और एतदर्थ सम्यग्ज्ञान बनावें। ज्ञान ही सर्वसमृद्धियोंके मिलनेका साधन है।

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव ॥५७॥

सत्यव्रतके सम्बन्धमें चर्चा—इस गाथामें सत्यव्रतका स्वरूप कहा गया है। रागसे, द्वेषसे अथवा मोहसे असत्य वचन बोलनेके परिणामको जो साधु त्यागता है, उस साधुके सत्यव्रत हुआ करता है। पापका बन्ध शरीर की चेष्टासे, वचनोंकी चेष्टासे नहीं हुआ करता है। मन दो प्रकारका है—द्रव्यमन व भावमन। द्रव्यमनकी तो शरीरमें ही अष्टदल कमलाकार रचना होती है, उसे कहते हैं। सो द्रव्यमन शरीरमें शामिल हो गया है, अलग नहीं है। यह भी पौद्गलिक है, सो द्रव्यमनकी चेष्टा भी पापबन्धका कारण नहीं है। भावमन आत्माके ज्ञानरूप है। वह भी आत्माका परिणाम है। अशुभ परिणाम पापका बंधक है, शुभ परिणाम पुण्यका बंधक है अथवा

सहजशुद्ध आत्मपरिणाम हो तो वह मोक्षमार्ग का प्रयोजक होता है। सत्य के सबन्धमें चार पदवियां हैं—एक तो वचनगुप्ति, दूसरी भाषासमिति, तृतीय सत्यधर्म, जो कि उत्तम क्षमा आदिक १० लक्षणमें आते हैं और चतुर्थ है सत्य महाव्रत। इन चारोंमें परस्परमें क्या अन्तर है? इसे निरखिये।

वचनगुप्तिमें सत्यकी परिपूर्णता— वचनगुप्तिमें सत्य असत्य सभी प्रकारके वचनोंका परिहार रहता है। यह वचनके बाबत ऊंची साधना है। एक बार राजा श्रेणिकने जैनसाधुओंकी परीक्षा करनेके लिये चेलनासे कहा कि आप इस जगह चौका लगायें और जैनसाधुओंको आहार करावें। और उस जगह खुदवाकर हड्डियां भरवाकर पटवा दिया, जिससे वह स्थान अपवित्र हो गया। चेलनाको भी मालूम हो गया कि यह स्थान चौकेके लायक नहीं है, किन्तु राजाने कहा कि नहीं नहीं, चौका जरूर लगाओ। चौका लगाया, पर किस तरहसे पड़गाहा—हे त्रिगुप्तिधारक महाराज! अत्र तिष्ठ, तिष्ठ। तो एक मुनि संकेतमें एक अंगुली उठाता हुआ निकल गया। दूसरा मुनि आया, उसे भी उसी तरह पड़गाहा, वह भी एक अंगुली का इशारा करता हुआ आगे गया। तीसरा मुनि आया, उसे भी उसी तरहसे पड़गाहा। वह भी एक अंगुलीका इशारा करके चला गया। किसी ने आहार ही न किया। श्रेणिक सोचता है कि इतने साधु यहां आये, पर आहार क्यों नहीं किया? बताया कि मैंने त्रिगुप्तिधारी महाराजको पड़गाहा था। जिसके तीनों गुप्ति न हों, वह कैसे आये? जिसे बुलाया, वही तो आयेगा। फिर वे दोनों जब उन मुनियोंके दर्शनार्थ गये तो उन्होंने अपनी कहानी सुनाई कि हमारे मनोगुप्ति न थी, एकने कहा कि हमारे वचनगुप्ति न थी, एकने कहा कि हमारे कायगुप्ति न थी। तीनों गुप्तियां विधिवत् पल जायें तो यह बहुत सम्भव है कि उसे अवधिज्ञान हो। जिसे अवधिज्ञान हो, वह जान जायेगा कि इसने त्रिगुप्तिधारी शब्द कहकर क्यों पड़गाहा? मामला इसमें क्या है? तो वह ज्ञानसे देखता है और उसे यह मालूम हो जाता है कि यह स्थान शुद्ध नहीं है। तीन गुप्तियोंकी साधना बहुत बड़ी साधना है।

वचनगुप्तिकी परमविश्रामरूपता— भैया! वैसे भी देख लो कि जगत्की कौनसी चीजकी तृष्णा कर रहे हो? कौनसा पदार्थ हितरूप है या आपकी मदद देगा? क्यों मरा जाये उस लक्ष्मीकी उपासनामें ही? गड़े रहो, धरे रहो, बने रहो, न तुम्हारा कुछ खर्च होगा, न कुछ परेशानी रहेगी अथवा किसी चेतनसे या किसी अन्यसे क्या आशा रखते हो?

किसे मनमें बसाते हो? कोई समय तो ऐसा लाओ कि यह मन परके बोझ से रहित हो, वचनके बोझेसे रहित हो, शरीरकी चेष्टाके श्रमसे रहित हो जाये। इन गुप्तियोंका प्रकरण आगे आयेगा। यहां तो इतनी बात कहने के लिये कहा है कि सत्यवचन अथवा वचनके संबन्धमें चार पदवियां हैं। सर्वोत्कृष्टस्थान वचनगुप्तिका है।

सत्यवचनका फलित विकास भाषासमिति— द्वितीय स्थान भाषा सतितिका है। भाषासमितिमें हित मित प्रिय वचन बोलना कहा गया है। जो साधु भारी बोला करते हैं, वे अपने पदसे भ्रष्ट रहते हैं। अधिक बोलना, बिना प्रयोजन बोलना, गप्प मारना, हंसी ठट्टा करना, मौज मानना बातचीतमें, यह सब साधुओंका धर्म नहीं है। परिमित वचनको बोलना और वह भी दूसरोंके हित करने वाले हों, ऐसे वचन बोलना। जिन वचनोंसे दूसरोंके हितका संबन्ध नहीं है, उन वचनोंका बोलना साधुको नहीं बताया है। भाषासमिति इसीका नाम है और साथही प्रियवचन बोलना भी यही है।

सत्यका प्रयोजक और प्रयोग उत्तम सत्य व सत्यमहाव्रत— तीसरा स्थान है उत्तम सत्यका। जिसका नाम दसलक्षणमें एक धर्ममें आता है। आत्माका हित करने वाले सत्यवचन बोलना सो उत्तमसत्य है। इसमें आत्मतत्त्वके अतिरिक्त अन्य कुछ बात नहीं करनी है और सत्यमहाव्रतमें आत्माकी भी बात अथवा देश, सम्प्रदायकी भी बात, अन्यकी बात प्रयोजनवश की जा सकती है, किन्तु वह यथार्थ हो, किसी जीवको पीड़ा करने वाली बात न हो। तो आप यहां जानियेगा कि सत्यमहाव्रतसे ऊपर भी अभी तीन स्टेज और हैं वचनालापके संबन्धमें, उनमेंसे यह सत्यमहाव्रत का प्रकरण है।

साधुके अन्तर्बाह्य सत्य— साधु पुरुष रागवश झूठ बोलनेका परिणाम भी नहीं करता। रागवश, स्वार्थवश, इन्द्रियविषयके रागवश, किसी मित्रके रागवश कोई ईर्ष्यावचन नहीं बोलना। देखिये कि तपोंके प्रकरणमें व्रतपरिसंख्यान नामका तप आया है. अर्थात् भोजनके लिये कुछ अटपट नियम ले लेना कि ऐसी गलीसे जायेंगे, वहां आहार मिलेगा तो करेंगे अथवा ऐसी घटना दिख जाएगी तो आहार करेंगे— यह बहुत ऊंचा तप है। यह तप खेल बनाने लायक नहीं है, क्योंकि इस तपको जो साधु खेल बना लेगा, उसके अनेक दोष आते हैं। समर्थ तो है नहीं, मनमें कुछ सोच लिया अथवा न भी सोचा तो भी व्यर्थ ही चक्कर काटना अथवा सोच लिया और न मिले आहार तो आहार तो करना ही है। तो ऐसा झूठ

बोलनेका परिणाम भी साधुके नहीं होता है तो झूठ बोलना तो दूर ही रह गया।

साधुके रागद्वेषवशताका व रागद्वेषवशंकर वचनालापका अभाव— ये सब तप वगैरह उत्तरगुणोंमें शामिल हैं। साधुके मूलगुणोंमें शामिल नहीं हैं। उन्हें न करे तो साधुता नहीं मिट जाती, पर इन मूलगुणोंका ठीक पालन न करें तो साधुता नहीं रहती। शक्तिके बाहर छलांग मारे और फिर न संभालें तो अंतरंगमें मृषा आदिकके परिणामोंके पाप होंगे। उससे अधिक भला तो यह है कि उत्तर गुणोंका विशेष पालन न करे, मूल गुणों का विधिवत् पालन करे। किसी रागवश साधुके झूठ बोलनेका परिणाम नहीं होता। द्वेषवश प्रायः करके, द्वेषके कारण झूठ अधिक बोल लिया जाता है क्योंकि क्रोधमें, द्वेषमें कुछ सचाई नहीं रहती। सो जिसमें अपना निपटना समझा जाता है वैसे ही वचन बोलेगा। यह भी साधु पुरुष नहीं करते।

साधुके मोहवशताका अभाव— मोहवश भी साधु मृषा नहीं बोलते। किसी साधुने किया चार महीनेका उपवास। वह साधु चतुर्मास बाद ही चले गये। बादमें दूसरे ही दिन दूसरा साधु निकला तो लोगों ने उस दूसरे साधुकी तारीफ की। अहो—देखो चार महीनेका उपवास किया है इन मुनिराजने और उसने रोज-रोज खाया था, उपवास भी न किया था, लेकिन वह चुपचाप सुनता रहा। सोचा कि यह तो मुफ्त ही प्रशंसा मिल रही है, सो वह चुप रहना भी उनका झूठ है। इतना कहनेमें कौनसी हानि थी कि भाई वह मुनि कोई दूसरे होंगे। हम उपवासी नहीं हैं। साधु रागद्वेष मोहवश झूठ बोलनेका परिणाम भी नहीं करते हैं। ऐसे साधुवोंके ही सत्य महाव्रत है।

निश्छल यथार्थ व्यवहारका कर्तव्य— भैया! इतना ध्यान तो हम सबको भी होना चाहिए कि हम मोह रागद्वेषका आदर न रक्खें और हित मित प्रिय वचन बोलें। देखो ये सब कलायें उसके जगा करती हैं जिसको बाह्यपदार्थोंमें तृष्णाका परिणाम नहीं जगता। सर्वकषायोंमें लोभ कषाय इस जीवको घनी चोट देने वाली होती है। लोभ की मित्रता मायासे है, छल कपटसे है। जिसके तृष्णाका परिणाम विशेष है वह मनमें कुछ रक्खेगा, वचनमें कुछ कहेगा, शरीरमें कुछ करेगा और ऐसे तृष्णावान् पुरुषोंको हित-मित प्रिय वचन बोलना जरा कठिन हो जाता है। सो जरा एक विवेककी ही तो बात है। इतना निर्णय रखनेमें आपका क्या जाता है कि मेरे आत्माका मेरे आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त परमाणुमात्र भी कुछ

नहीं है। इस निर्णयमें भी कुछ नुकसान है क्या? यदि यह निर्णय है अंतरंगमें तो तृष्णाका रंग नहीं चढ़ सकता। और जब तृष्णा नहीं है तो सत्यव्रतका पालन भली प्रकार निभ सकता है। हम दूसरोंसे हितकारी वचन बोलें जिससे दूसरों का भला हो, छलपूर्ण वचनोंका परिहार करें, जितनी शक्ति है जितनी बात है उतनी साफ हो।

पशुवोंमें भी निश्छलव्यवहारका सन्मान—एक मुसाफिर जंगलमें जा रहा था, उसे मिल गया शेर। सो डरके मारे वह मुसाफिर एक पेड़पर चढ़ गया। उस पेड़पर बैठा था पहिले से रीछ, अब तो उसके सामने बड़ी कठिन समस्या आ गयी। ऊपर रीछ और नीचे शेर। अब तो वह डरा। पर रीछने कहा कि ऐ मनुष्य तुम डरो मत। तुम हमारी शरण में आये हो तो हम तुम्हारी रक्षा करेंगे। उसके कुछ साहस हुआ। वह पेड़ पर बैठ गया। इतने में रीछको नींद आने लगी। तो सिंह नीचेसे कहता है कि रे मनुष्य! रीछ हिंसक जानवर है, अब यह सो रहा है, तू इसे धक्का दे दे तो तू बच जायेगा, नहीं तो मेरे चले जाने पर तुझे मार डालेगा। उसकी समझमें आ गया। रीछको धक्का देने लगा तो उसकी नींद खुल गयी रीछ संभल गया और न गिर पाया। अब थोड़ी देर बाद मनुष्यको नींद आने लगी। तो सिंह कहता है रे रीछ। यह मनुष्य बड़ा दुष्ट और कपटी जानवर है, इसको तू नीचे गिरा दे तो तेरी जान बच जायेगी, नहीं तो तू भी न बचेगा। रीछ कहता है कि यह कैसे हो सकता है, हमने इसे शरण दिया है। सिंह बोला कि देख अभी तुझे नीचे गिरा रहा था इतना कपटी मनुष्य है, फिर भी तू उसकी रक्षा-रक्षा चिल्ला रहा है। रीछने कहा कि मनुष्य चाहे मुझे धोखा दे दे, पर हम जो एक बार आश्वासन दे चुके हैं उससे नहीं हट सकते। देखो भैया! जब पशु भी कपट नहीं करते, तब मनुष्योंको तो करना ही क्यों चाहिये?

प्रायोजनिक निश्छल वार्ताकी उपादेयता— आप सोचो कि छलपूर्ण वचन कितने भयंकर वचन होते हैं। जिसके साथ छल किया जाय उसको कितनी अन्तर्वेदना होती है, उसे वही भोग सकता है। छल भरी बात सब झूठ है। साथ ही यदि परिमित वचन न हो तो वह भी अनेक विपत्तियोंको लाने वाला है। जो ज्यादा बोलते हैं उनका कितना नुकसान है। एक तो वचन अधिक बोलने से वचनकी कमजोरी हो जाती, आत्मबल भी कम हो जाता। और कोई अप्रयोजन बात भी बन जाय तो उसका विसम्वाद खड़ा हो जाता है। क्या आवश्यकता है? अरे गृहस्थजन हैं उन्हें तो दो बातोंका प्रयोजन है, धर्मका प्रसार हो, धर्मका पालन हो और

आजीविका चले। तो जिस बातसे धन मिले अथवा धर्म पले उस बातको बोलो, गप्पोंमें पड़ने से क्या लाभ है ?

अप्रिय वचनोंकी हेयता— भैया! वचन प्रिय भी होने चाहियें। एक देहाती आदमी गया गंगा नहाने, उसे लगने लगे वहां दस्त। वह बीमार हो गया। वहां एक झोंपड़ीमें एक बुढ़िया रहती थी, उसने दया करके कहा कि घबड़ावो मत, हमारे यहां ही भोजन करो। तो पथ्यमें उसने खिचड़ी वगैरह बनायी। वह वहां ठहर गया। जब बुढ़िया खिचड़ी बना रही थी तो वह बोलता है कि बुढ़िया मां तुम्हारा खर्च कैसे चलता है ? तुम तो बड़ी गरीब हालतमें हो। बुढ़िया बोली—हमारे दो बेटा हैं, वे ही खर्चा भेज देते है। फिर मुसाफिर बोला कि यदि बेटे मर गये तो फिर कैसे खर्च चलेगा ? तो उसने कहा कि तुझे खिचड़ी खाना है कि अट्टसट्ट बकना है। फिर थोड़ी देर बाद बोला कि बुढ़िया मां तुम अकेली रहती हो तुम्हारी शादी करा दें तो तुम दो हो जावोगे। लो, उस बुढ़ियाने उसे वहां से भगा दिया। तो ये अप्रिय वचन ही तो थे ? कहना तो ठीक था। अरे बेटे मर जायेंगे तो फिर खर्चा कहांसे चलेगा, अकेली रहती थी कोई दूसरा होता तो ठीक था। कहना तो ठीक था, पर उस जगह वे अप्रिय और अनुचित वचन थे। अप्रिय वचन हिंसापूर्ण होते हैं, अतः वे हेय हैं। सत्य वचन अहिंसापूर्ण होते हैं।

सत्य आशयकी स्वच्छता— अहिंसाका ही अंग है सत्य बोलना। सत्य बोलने से अपने आपकी रक्षा है और दूसरोंकी रक्षा है। जो कोई साधु आसन्न भव्य हैं अर्थात् जिनको मुक्ति निकट है, होनहार उत्तम हैं ऐसे पुरुष ही उत्तमसंगमें, उत्तम आचरणमें रहते हैं, परिग्रहकी तृष्णा भी न होनेकी प्रकृति बनाते हैं और दूसरे जीवोंको न सतानेका भाव रखते हैं। वे आत्मकल्याण भी करते हैं और परकल्याण भी करते हैं। ऐसे गृहस्थों में भी विरले महात्मा संत होते हैं। कोई भेष धर लेने मात्रसे अन्तरङ्ग की बात नहीं बनती। उपादान तो बहुत कषायसे भरपूर हो, अज्ञानसे भरा हो और भेष धर्मात्मापनका धारण करले तो कहीं उस प्रवृत्तिमें कर्मबंध न रुक जायेगा। गर्दभको कहीं सिंहकी खाल मिल जाय और उसे ओढ़ ले तो कुछ दिन तक भले ही दूसरे जीवोंको चकमा देता रहे परन्तु शूरता तो उसमें न हो जायेगी। गृहस्थजन कोट, कमीज, टोपीके ही भेषमें हैं, रहें किन्तु जिस गृहस्थका अंतरङ्ग शुद्ध स्वच्छ है वह सत्पंथ पर ही है। स्वच्छता यही है कि बाह्यपदार्थोंमें आत्मीयता न करना और यह दृष्टिमें रहे कि मेरा-मेरा स्वरूपके अतिरिक्त कुछ नहीं है। सत्य कल्प व जल्पका

सत्य प्रभाव होता है।

अहित व अप्रिय वचनसे निवृत्ति— भैया ! जो परिग्रहका समागम हुआ है, उस परिग्रहका प्रतिदिन या यथाअवसर सदुपयोग करो अन्यथा कोई ऐसा टिल्ला लगेगा कि अचानक ही धन बरबाद हो जायेगा। अपनी शुद्ध वृत्तिसे परके उपकारमें लगनेके लिये सद्गृहस्थ उत्साहित रहा करते हैं। वैभवको परोपकारमें लगाते हुए चित्तमें ऐसी स्वच्छता रहनी चाहिये कि अहितकारी और अप्रिय वचन बोलनेका परिणाम भी न आये। साधु अहिंसा और सत्यकी मूर्ति है। वास्तविक सत्य तो वह है, जो आत्मा की उन्नतिके साधक ही वचन हों। उसके अलावा यदि रोजगारसंबन्धी भी सच्चाईके बर्तावके वचन हैं तो वे भी मोक्षमार्गकी दृष्टिमें असत्य कहलाते हैं। इन सत्यवचनोंका गृहस्थ त्यागी नहीं होता। इस कारण गृहस्थके सत्य-अणुव्रत है। गृहस्थ व साधु हो, सभी आत्मार्थी जनोंको अहित व अप्रिय वचनसे निवृत्त रहना चाहिये।

असत्यवादीसे दूर रहनेमें भलाई—जो पुरुष सत्य वचनोंमें अनुराग रखता है, असत्य वचनोंका परिहार करता है; वह बड़े देवेन्द्रपदको प्राप्त होता है, नाना भोगोंका पात्र होता है और इस लोकमें भी सज्जनोंके द्वारा पूज्य होता है। सत्यसे बड़ी प्रतिष्ठा होती है। जिस पुरुषके संबन्धसे दूसरे को यह विदित हो जाये कि यह असत्य बोला करता है तो उसके निकट लोग बैठना भी पसंद नहीं करते। उसे खतरा समझते हैं और विचारते भी हैं कि न जाने इसकी बातमें आ जायें तो मेरा क्या क्या अलाभ हो जावे।

असत्यवादीके संगसे क्षति होने पर एक दृष्टान्त— एक पुरुषने किसी सेठ जीके यहां नौकरी की। सेठने पूछा कि क्या लोगे वेतन ? उस ने कहा कि साहब ! थोड़ासा छटांक-दो छटांक भोजन और सालभरमें एक बार झूठका बोलना, यह हमारा वेतन होगा। सेठने समझा कि यह तो बड़ा सस्ता नौकर मिल गया और रख लिया उसे। कुछ माह बाद नौकरने सोचा कि सेठजीसे झूठ बोलनेका अपना वेतन तो पूरा ले लेना चाहिये। तो नौकरने सेठानीसे कह दिया कि सेठजी वेश्यागामी हैं, तुम्हें इनका पता नहीं है, ये रात्रिको शहर भाग जाया करते हैं। तुम इनकी परीक्षा कर लो, इनकी आदत छुटानेका भी उपाय कर लो। तुम रात्रिको उस्तरेसे इनकी एक ओरकी दाढ़ी बना दो जब कि वे खूब डटकर सो रहे हों, तो उन्हें पता ही न पड़ेगा। कुछ उस्तरे ऐसे भी होते है कि धीरेसे बाल बना दो तो पता ही नहीं चलता। जब ये बदसूरतीमें वेश्याके यहां जावेंगे, तब

वेश्या इन्हें निकाल देगी। यह तो कह दिया सेठानी जीसे और सेठ जीसे क्या कह दिया कि आज सेठानी दूसरे यारकी बातमें आकर रात्रिको तुम्हारी जान लेने आयेगी, आज तुम सोना नहीं, जगते रहना और झूठ-मूठ सोना। अब तो उसे नींद न आये। रात्रिको वह बढ़िया उस्तरा लेकर सेठजीकी एक तरफकी दाढ़ी साफ करने आयी। सेठजी सो तो न रहे थे, उन्होंने सोचा कि नौकरने ठीक ही कहा था कि सेठानी आज तुम्हारी जान लेने आयेगी। अब सेठ सेठानीमें बहुत विकट लड़ाई हुई तो नौकर कहता है कि सेठ जी हमने अपना पूरा वेतन ले लिया, अब घर जा रहे हैं। तो किसी किसीको झूठ बोले बिना, चकमा दिये बिना चैन नहीं पड़ती है। कितनी प्रकारके इस जीवके परिणाम रहते हैं और उनके कारण कैसे वचनालाप होते हैं, वे सब हिंसात्मक वचनालाप हैं।

सत्यभाषणकी आवश्यकता— भैया ! जहां राग-द्वेष-मोह भाव होता है, वहां अहिंसापोषक सत्य वचन नहीं होता है। मनुष्यके सब व्यवहारोंका साधन वचनव्यवहार है। वचन बोलनेकी ऐसी विशद योग्यता मनुष्यभव में प्राप्त होती है। असत्य बोलकर मनुष्यजीवनको विफल कर दिया जाये तो पशु, पक्षी, कीड़े, स्थावरों जैसा तिर्यंचभव मिलेगा, वहां कठिन विडम्बना बीतेगी। सत्यभाषण से उत्कृष्ट व्रत और व्यवहारमें क्या हो सकता है ? सत्यभाषणके प्रसादसे चोरी, कुशील, तृष्णा और जीवघात आदि सब दोष समाप्त हो जाते हैं। अतः अप्रमादी होकर सत्यभाषण करना प्रमुख कर्तव्य है।

गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुचदि गहणभावं तिविदवदं होदि तस्सेव ॥५८॥

अचौर्य व्रत— अब अचौर्य महाव्रतका स्वरूप वर्णन किया जा रहा है। चोरी न करना इसका नाम अचौर्य व्रत है। जिन आध्यात्मिक योगियोंने परमार्थ चोरीसे दूर रहनेका संकल्प किया है, ऐसे ज्ञानी संत व्यवहार अचौर्य महाव्रतके पालनेमें सावधान रहा ही करते हैं। वस्तुतः चोरी उसका नाम है कि हो तो परवस्तु और अपना बना लेवे। व्यवहारमें भी जो चोरी नाम है, वह भी यही अर्थ रखता है कि है तो दूसरेकी चीज, दूसरेके अधिकारकी बात और उसे किसी समय आंख बचाकर ले लेना अर्थात् अपनी बना लेना, परकी चीजको अपनी बना लेनेका नाम चोरी है। अब देखो कि दुनियामें अपनी चीज क्या है और परकी चीज क्या है ? एक आत्मस्वरूपको छोड़कर शेष समस्त पदार्थ पर हैं, उन परोंको अपना लेना, कल्पनामें अपना मान लेना आध्यात्मिकक्षेत्रमें, मोक्षमार्गके

प्रकरणमें यही चोरी है। जो ज्ञानी पुरुष हुए हैं, उनके इस प्रकारसे चोरी का परिहार हुआ।

मूलतः अचौर्यव्रत— जो व्यवहारकी चोरीसे तो दूर हैं, किन्तु परमार्थकी चोरीसे दूर रहनेका जिनका ध्यान भी नहीं है, ऐसे पुरुष पुण्यबंध तो कर लेते हैं, किन्तु जिसे धर्म कहते हैं जिसे कर्मोंकी निर्जराका कारणभूत उपाय कहा करते हैं, वह नहीं बन पाता—ऐसे ज्ञानी संत जो कि परवस्तुको पर ही जानते हैं और आत्मस्वरूपको निज जानते हैं वे व्यवहार की चोरीसे दूर रहनेमें बहुत सावधान रहते हैं। ग्राममें, नगरमें या वनमें परकी चीजको देखकर जो ग्रहण करनेका भाव छोड़ता है, उसके ही यह अचौर्य महाव्रत होता है। दूसरेकी चीज न लेना, इस चोरीके त्यागका नाम उपचारसे है और दूसरेकी चीजको लेनेका भाव ही न उत्पन्न होना, यह है मूलमें अचौर्य महाव्रत।

चौर्यके परिणामकी पापरूपता— भैया चीजके धरे उठाये जानेसे चोरीका पाप नहीं होता, किन्तु चोरीका परिणाम करनेसे चोरीका पाप होता है। इरादतन चोरीके भावसे चीज ग्रहण करनेका नाम चोरी है। आपसे कोई मित्र बात कर रहा हो और उसही प्रसंगमें कभी ऐसा हो जाये कि आप उसकी जेबसे पैन निकाल लें, आप उससे गप्पें करते जा रहे हैं और गप्पें करते हुए ही आप अपने घर जाने लगें तथा वह मित्र अपने घर जाने लगे। आपको उस मित्रका पैन देनेका ध्यान ही न रहा और हो भी जाता है ऐसा। अब आप अपने घर पहुंच गये, ख्याल आया कि ओह, गप्पें करते हुएमें मित्रका पैन ले लिया था, देनेका ध्यान ही न रहा। अब आप जाकर उस मित्रका पैन दे आते हैं। अब आप यह बतलावो कि क्या इसमें चोरीका पाप लग गया? नहीं लगा। इरादतन किसीकी वस्तुको अपना लेना, इसका नाम चोरी है।

परवश अनिच्छादत्तका भी चौर्य पाप— कोई पुरुष यह सोचे कि दूसरेके द्वारा बिना दी हुई चीजका ले लेना चोरी है और डाकू लोग आपके हाथसे भी वस्तु ले लिया करते हैं तो क्या वह चोरी नहीं है? वे आपसे ही कहते हैं कि चाबी निकालो, आपसे ही कहते हैं कि तिजोरी खोलो, आपसे ही धन निकलवाकर ले लेते हैं तो यह भी तो चोरी है। परकी चीजको परकी इच्छाके बिना, परकी प्रसन्नताके बिना ले लेना, इसका नाम चोरी है। किसीको दबाकर, परेशानकर, किसी मामलेमें फंसाकर उससे कुछ ले लेना, यह भी चोरी है। हाथसे कोई दे और आप ले लें, इतने मात्रसे चोरीका पाप नहीं मिटता है, किन्तु यदि कोई इच्छापूर्वक दे,

प्रसन्नता सहित दे और आप उसे ग्रहण करें तो वह चोरीमें शामिल नहीं है।

व्यवहाराशक्य प्रसंगमें चोरीका अभाव— जिन चीजोंमें देनेका और लेनेका व्यवहार ही नहीं है तो ऐसी वस्तुवोंको कोई ले लेवे तो वह भी चोरी नहीं है। कर्मवर्गणाएं कितनी यह जीव ग्रहण करता है? क्या कोई कर्मवर्गणाएं दिया करता है? लो अब इसे बान्ध लो और अपने घर में धर दो। कोई देने वाला नहीं है, उसमें देने और लेनेका व्यवहार ही नहीं है। कर्मवर्गणावोंको ग्रहण कर लेना, बान्ध लेना, यह चोरी नहीं है क्या? नहीं।

अचौर्यव्रतका व्यवहार्य विवरण— किसी भी जगह कोई चीज पड़ी हो, किसीकी भूली हुई हो, किसीकी धरी हुई हो अथवा गिर गई हो, उस परद्रव्यको देखकर भी स्वीकार करनेका परिणाम न होना, इस ही का नाम अचौर्य महाव्रत है। कितनी ही जगह हैं, जहां किसीका परद्रव्य गिर जाता है, भूल जाता है, उसको इस गाथामें सांकेतिक किया है जैसे ग्राम, नगर व अरण्य अर्थात् वनमें। गांव उसे कहते हैं जो बाड़ियोंसे घिरा हुआ हो। जैसे छोटे छोटे गांव होते हैं ना तो घरोंके चारों ओर अथवा जननिवासके चारों ओर खेत खलिहानको बाड़ियां लगी होती हैं। तो बाड़ियों से घिरा हुआ जो मनुष्यका निवास है, उसका नाम गांव बताया गया है। जिस गांवके चारों ओर आने जानेके दरवाजे हों, अच्छे सुसज्जित स्थान हों, उन निवासोंको कहते हैं नगर। नगर बड़ी चीज है। तो चाहे गांवमें भूली पड़ी गिरी वस्तु हो; चाहे नगरमें भूली पड़ी गिरी वस्तु हो या वनमें भूली पड़ी गिरी हुई वस्तु हो तो उस वस्तुको स्वीकार न करना और स्वीकारके परिणाम भी न होना या भावना होना, इसका नाम अचौर्य महाव्रत है।

वैभव भी धूल— एक श्रावक श्राविका थे। दोनों किसी कामसे दूसरे गांव जा रहे थे। तो प्रायः यह रिवाज है कि पुरुष आगे चलता है और स्त्री पीछे चलती है। किसी जगह स्त्री एक फर्लांग दूर रह गई और उस मनुष्यको एक जगह १०, २० पड़ी हुई मोहरें मिल गईं, किसीकी गिर गई होंगी। तो श्रावक सोचता है कि पत्नि पीछे आ रही है, उसके आनेसे पहिले ही इन मोहरों पर धूल डाल दें और इन्हें ढक दें, नहीं तो इनको देखकर मुग्ध जानेसे स्त्रीका मन मलिन हो जायेगा और पापबन्ध हो जायेगा। सो वह उन मोहरों पर धूल डालने लगा। इतनेमें स्त्री आ गयी और कहती है कि आप यह क्या कर रहे हैं? वह बोलता है कि मोहरों

पर धूल डाल रहा हूं ताकि इनको देखकर तुम्हारा परिणाम न मलिन हो जाय। तो स्त्री कहती है कि क्या व्यर्थका कामकर रहे हो, बढ़े चलो आगे तुम धूल पर धूल क्यों डाल रहे हो ? तो श्रावकके मनमें यह आया कि ये मोहरें हैं, इनको देखकर स्त्रीका परिणाम न मलिन हो जाय और श्राविकाके मनमें आया कि क्या धूल पर धूल डाल रहे हो ? तो ऐसा ही परिणाम जहां हुआ करता है वस्तुतः अचौर्य महाव्रतका पालन वहां होता है।

अचौर्य महाव्रतका परिणाम— किसीकी चीज कहां खो जाती है इसका संकेत किया गया है—ग्राम, नगर व वन। प्रायः वनोंमें इनके खो जानेका प्रसंग अधिक आया करता है, साधुओंके सत्संगमें लोग वनोंमें जाते हैं—साधुजन चूँकि वनोंमें ही रहा करते हैं, वहां दर्शन करने श्रावक लोग खूब जाते हैं। खूब भीड़भाड़ हो जाती है, भीड़भाड़के कारण वहां बहुतसे आभूषण गिर जाते हैं, वनमें नाना वनस्पति, लतायें, छोटे पौधे अधिक होते हैं वहां पड़ जाते हैं। तो कोई वस्तु हो, कहीं गिरी भूली धरी हो उसके स्वीकार करनेका परिणाम जो त्याग देना है ऐसे साधुके अचौर्य महाव्रतका परिणाम होता है। जो पुरुष इस अचौर्य महाव्रतका पालन करता है उसको इस लोकमें अथवा परलोकमें बहुत विभव समृद्धि प्राप्त होती है। उच्च गति हो, स्वर्गके वैभव मिलें और ऐसा निराला परिणाम रखने वाले पुरुष मनुष्यभवको सफल करते हैं, मुक्तिके पात्र होते हैं।

धर्मपालनमें आन्तरिक साहसकी आवश्यकता— भैया ! दो चीजों का मेल करना बड़ा कठिन है (१) लोकपोजीशन भी हमारी बढ़ी हुई रहे और (२) धर्मका पालन भी सही प्रकार करलें—इन दोनोंका मेल होना आज के समयमें तो बड़ा कठिन है। किसी भी प्रकारकी लौकिक पोजीशन हो, चाहे नेता बनकर पोजीशन बढ़ाई जाय अथवा धनी बनकर पोजीशन बढ़ाई जाय, बड़ा कठिन पड़ता है कि शुद्ध सरल स्वच्छ परिणाम रखकर अन्तरमें धर्मपालन भी बराबर रहे और यह लोकप्रतिष्ठा भी बनी रहे। खूब समृद्धिशाली धनी हो जाना यह भी साथ चलता रहे, यह बहुत कठिन काम है। धर्मपालनकी धुनि वाला इतना साहस किए हुए हो कि मैं अकेले ही भला चोखा रहूं अथवा कैसी भी स्थिति आ जाय, प्रत्येक स्थितिमें गुजारा किया जा सकता है।

ज्ञानीकी अनाकांक्षता— एक भजनमें यह लिखा है कि 'जगत्में सुखिया सम्यक्वान। भीख मांगकर उदर भरे पर न करे चक्रीका ध्यान ॥' चाहे किसीसे मांगकर, अपनी बात बताकर किसीसे भिक्षा लेकर ही पेट

भर ले पर चित्तमें यह ध्यान कभी नहीं लाते उत्तम पुरुष कि हाय हम न हुए चक्रवर्तीके जैसे वैभव वाले। ऐसा किसी भी प्रकारका ध्यान न करना। जो चक्री हो वह भी भवपरित्याग करेगा और जो थोड़ी स्थितिका हो वह भी भव परित्याग करेगा। अध्यात्मक्षेत्रमें किए जाने वाले कर्तव्यको लोकक्षेत्रके सिर पर खड़े होकर सुनें तो वह सब अटपट लगता है कि क्या कही जा रही है कायर बननेकी बात? देश किस ओर जा रहा है, हवा कैसी चल रही है, राजनीति संभालने का समय है, और यहां क्या उपदेश हो रहा है, अटपट लगता है, किन्तु अध्यात्महितसे भावसे इसही तत्त्वको सुना जाये, कहा जाय तो बात यथार्थ सत्य है। यहां कितने दिन को सुख चाहते हो, कितने दिनके आरामके लिए सारा श्रम किए जा रहे हो? कलका ही तो कुछ पता नहीं है। क्या होगा भविष्यमें, इसका भी तो ध्यान होना चाहिए।

निज प्रभुके प्रसादमें अचौर्यव्रतका पालन— अचौर्यव्रतका धारी अंतरङ्गमें ऐसा निर्मल है कि वह इस देहको भी अपनाता नहीं। देह मेरा है, देहको हम अपना बना लें, ऐसी भी बुद्धि साधुसंत पुरुषके नहीं होती है यद्यपि देहको छोड़कर कहां जायें, लगा हुआ ही है, पर देह मैं हूं, देह मेरा है ऐसी उसकी बुद्धि नहीं होती है। देहसे भी न्यारा ज्ञानप्रकाशमात्र समस्त आनन्दके निधान ज्ञानस्वरूप निज प्रभुका प्रसाद पाये बिना संसारमें कितने दुःख भोगने पड़ रहे हैं? दुःख कुछ नहीं है, दुःख बना लिया जाता है। और मनुष्य तो प्रायः दुःख बनानेमें बड़े कुशल हैं।

मनुष्योंमें पशुवोंसे अधिक व्यग्रता-- पशुवों को जब भूख लगी तब मिल गया, खा लिया, पर घासका संग्रह करके रक्खें और सालभरका हिसाब बनावें ऐसा वहां कुछ नहीं है। निर्द्वन्द्व होकर पक्षी पशु जंगलमें विचरते फिरते हैं। कहींके कहीं चले जायें, कुछ हुई नहीं है। जिस समय वेदना हुई उस समय इलाज कर लिया। हालांकि यह नहीं कह रहे हैं कि पशु पक्षी बुद्धिमान् हैं मनुष्यसे, पर मनुष्योंको देखो कि वे कितने फंसे हुए हैं? क्या ये मनुष्य एक वर्षको ही अपने विषयोंके साधन जोड़ते हैं? नहीं। जिन्दगी भरको और जीवनमें भी यह नहीं सोच सकते कि चलो जो मिला है उसे ही खा लें। वे तो केवल ऊपरी रकमसे ब्याजसे, किराये से हमारा जीवन चले और सब सुरक्षित रहे, ऐसी बुद्धि बनाए हुए हैं। इसके अतिरिक्त यश प्रतिष्ठाकी चाहका तो कुछ कहना ही नहीं है।

स्वरूपविरुद्धवृत्तिमें मोही की होड़बाजी-- यद्यपि पशुपक्षियोंमें भी थोड़े समयको यशकी चाह उत्पन्न होती है, किन्तु वे थोड़ी देरको सिर

में सिर, मार लेते और जरा अपन जीत गए, खुश हो गए, हम बड़े कहलाने लगे यों अनुभव करने लगते हैं। जरा चोंचोंसे और पंखोंसे मार कर किसी पक्षीको भगा दिया, लो अपनेमें यशका अनुभव करने लगते हैं। यद्यपि पशुपक्षी भी यश प्रतिष्ठा चाहते हैं, लेकिन इस मनुष्यमें कितने विकल्पजाल होते हैं। यश चाहनेमें नाम बढ़ाने के लिए कैसी-कैसी स्थितियां बनी हुई हैं? धनी जुदा होना और बातें जुदा करना, कितनी बातें चलती हैं तो स्वीकारकी बात देखो—कितने परतत्त्वोंको यह आत्मा स्वीकार कर रहा है, पर ज्ञानी संत पुरुष एक आत्मीय चित्स्वभावके अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्वको स्वीकार नहीं करता। स्वीकारका अर्थ क्या है—'अस्वं स्वमिव करोति इति स्वीकारः' जो अपना नहीं है उसको अपने की तरह कर लेना इसका नाम है स्वीकार। स्व शब्द है ना, और फिर कार शब्द और लग गया—'स्वं इव करोति इति स्वीकारः जो अपना नहीं है उसे अपना बना लेना इसका नाम है स्वीकार। स्वीकार शब्द संस्कृतका है। निजको निज परको पर जान, यह है अचौर्य महाव्रतका उत्कृष्ट स्वरूप, लेकिन खेद है कि स्वरूपविरुद्धवृत्तिमें हमने पथसे भी होड़ लगा दी है।

व्यामोहका नशा – भैया! कुछ मोटेरूपसे ही देखो तो चोरी करने वाला पुरुष न तो शांतिका पात्र रहता है और न धर्मका पात्र रहता है, बल्कि अंतमें वह ही उलटा बरबाद हो जाता है। क्या कभी किसी डाकूको धनी होते देखा है? नहीं देखा होगा। बल्कि वे डाकू परस्परमें ही लड़कर एक दूसरे पर गोली चला देते हैं, या सरकारी सिपाही आदि मार डालते हैं वे मर जाते हैं। उनका जीवनमें कभी भला नहीं हो पाता है और जब तक जीवन है तब तक भी वे सदा भयशील बने रहते हैं, इधर उधर छिपते फिरते हैं, सारे नटखट हुआ करते हैं, किन्तु व्यामोहका नशा बड़ा विचित्र है कि इतने कष्ट भोग करके भी जिसकी चोरी की प्रकृति पड़ जाती है वह रह नहीं सकता।

सत्यभाषणसे पापनिवृत्ति— कहीं इतिहासमें या पुराणमें सुना है कि किसी राजाके पुत्रको चोरी करनेकी प्रकृति पड़ गयी। हालांकि कुछ कमी न थी, पर चोरी करनेमें उसे आनन्द आता था। इस ही बातसे राजाने उसे निकाल दिया था। लेकिन जब कोई साधुका सत्संग हुआ तो वहां साधुने कहा कि तुम चोरीका परित्याग करो। बोला—महाराज इस में तो हम ऐसा रंग गए हैं कि इस जीवनमें यह काम नहीं छूट सकता। महाराज और कोई व्रत दिलावो। तो कहा—अच्छा देखो तुम सच बोला

करो। राजपुत्र बोला, हां महाराज यह तो कर सकेंगे। मैं अब सच ही बोलूँगा। तो अब किसी दूसरे राजाके महलमें चोरी करने जा रहा था। पहरेदारोंने पूछा कि कहां जा रहे हो? बोला कि चोरी करने। चोरी करने तो जा ही रहा था। पहरेदारोंने कहा कि इसे जाने दो, चोर कहीं ऐसा कहा करते हैं? सबसे पार होकर चोरी भी की और खूब माल भी लूटा। बादमें सनसनी फैल गई। राजाने ऐलान किया कि जिसने चोरी की है, वह पेश हो जावे। राजपुत्र सारा धन लेकर राजाके यहां पहुंचा और बोला कि महाराज! मैंने चुराया। कैसे चुराया? उसने सारी बात बता दी। बोला कि मैंने सत्य बोलनेका नियम लिया है, सो सत्य बोलता हुआ चला आया। मैं राजपुत्र हूं, मुझे चीज चुरानेसे कुछ मतलब नहीं है, न किसी चीजकी मुझे तृष्णा है, किन्तु मुझे चोरी करनेमें आनन्द आता है। सत्य बोलनेसे राजा उससे बड़ा खुश हुआ, उसे उत्तराधिकारी बनाया व उसकी चोरी भी छूट गई।

चौर्यपरिणाममें रुद्रता— चोरीमें आनन्द मानना एक बड़ा क्रूर आशय बताया गया है। ध्यानोंमें चार प्रकारके ध्यान हैं— आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान। आर्तध्यान करने वाले की उतनी बड़ी दुर्गति नहीं होती, जितनी बड़ी दुर्गति रौद्रध्यान करने वालेकी होती है। आर्तध्यान कहते हैं आर्तिमें, क्लेशमें ध्यान होना। इष्टका वियोग होने पर उसके संयोगके लिये ध्यान चलाना आर्तध्यान हुआ। अनिष्टका संयोग होने पर उसके वियोगके लिये ध्यान बनाना, दुःखी होना अथवा इच्छा कर के हैरानी करना—यह सब आर्तध्यान है। इस आर्तध्यानके फलमें विशेष दुर्गति नहीं होती, पर रौद्रध्यानके फलमें विशेष दुर्गति होती है। हिंसामें आनन्द मानना, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, चोरीमें आनन्द मानना और विषयोंके संरक्षणमें आनन्द मानना रौद्रध्यान है।

रौद्रध्यानकी विशिष्टपापरूपताका प्रमाण— रौद्रध्यान पञ्चम गुणस्थान तक सम्भव है, आगे नहीं; किन्तु आर्तध्यान छठवें गुणस्थानमें भी सम्भव है। इष्टका वियोग होने पर दुःख होना कदाचित् मुनियोंके भी हुआ करता है। उनका कोई प्रिय शिष्य कष्टमें है तो उनके भी कष्ट हो जाये या कोई प्रतिकूल शिष्य पीछा ही न छोड़ता हो उसके पीछे खेद हो जाना—यह साधुवोंके भी हो सकता है, उसका भी थोड़ा ख्याल रहे तो यह छठे गुणस्थान तक हो सकता है। रौद्रध्यानी तो पञ्चमगुणस्थानसे आगे ही नहीं पहुंच सकता, बल्कि सम्यक्त्व होने पर भी दृढ़तासे रौद्रध्यान नहीं होता। क्रूरआशय वहां भी नहीं होता है। जैसे जिस शरीरका

चमड़ा ही छील दिया गया, यहां रोम कहांसे ठहरेंगे ? यों ही जहां समस्त परद्रव्योंको अस्वीकार कर दिया गया कि ये मेरे नहीं हैं, मैं तो अपने स्वरूप सत्मात्र हूं, अपने आपके अद्वैतरूप हूं। यों ध्य न करके जहां समस्त परद्रव्योंका परिहार कर दिया गया है। उपयोगसे वहां परकीय वस्तुको ग्रहण कर लेना यह कहां सम्भव हो सकता है ?

शुद्ध आशयका परिणाम— भैया ! सब लगनकी बात है। जिसकी जिस ओर लगन हो जाती है, उसको वही चीज सुहाया करती है। जब तक मिथ्यात्वमें वासित हृदय है और परकीय पदार्थोंके संञ्चयमें लगे हुए हैं तो वहां संसारकी ही धुनमें लग जाना पड़ेगा। जो अपने आपका, सर्वविविक्त, निर्मल, सबसे अपरिचित केवल अपने आपकी ही जिम्मेदारी में रहने वाले इस आत्मतत्त्वका परिच यपा लेता है, उसके तो घरमें बसने वाले स्त्री पुत्रों पर भी मोह नहीं रहता है। अब जो घरमें रहते हैं, सारे काम करते हैं, वे गृहस्थ भी कर्तव्य जानकर करते हैं; किन्तु आत्मामें उन समस्त परकीय सञ्चयोंके कर्तव्यमें प्रसन्नता नहीं है, अन्तरमें लगन तो एक आत्महितकी ही पड़ी हुई है। और देखो कि ऐसे सुबोध, प्रबुद्धचेता, ज्ञानी बन जाने पर भी उसके वैभवमें फर्क नहीं आता, बल्कि वैभववृद्धिको ही प्राप्त होता है। कोई धन हाथ पैर पीटनेसे नहीं आता है, यह तो सब पुण्योदयकी बात है और पुण्यका उदय होता है धर्मपालनसे, सद्विचार से। जो पुरुष अचौर्य महाव्रतका शुद्ध मनसे पालन करता हैं, उसको इस लोकमें भी वैभवका सञ्चय स्वमेव होता है और परभवमें भी देवगतिको प्राप्त कर देवोंकी ऋद्धियोंका सुख प्राप्त होता है।

परसे विरक्तिमें सर्वस्व लाभ— यह वैभव छायाकी तरह है। जैसे छायाको पकड़ोगे तो वह दूर भागेगी और छोड़े रहोगे तो पीछे पीछे ही चलेगी। योंही इस वैभवको छोड़े रहोगे, त्यागे हुए रहोगे, विविक्त माने रहोगे तो यह वैभव पीछे चला करेगा और कोई इस वैभवको पकड़नेके लिये बढ़ेगा तो वह वैभव उससे दूर भागा करेगा। देखो कि तीर्थंकरनाथ ने विरक्त होकर सर्ववैभवका परित्य ग किया और आत्मसाधना की, अरहंत हो गये, परिग्रहसे दूर हुए, उसके फलमें अनुपम समवशरणकी रचना हुई। उसमें एक गन्धकुटी बनी हुई है, रत्नोंका सिंहासन बना हुआ है, इसके ऊपर प्रभु विराज रहे हैं। तो यदि इस वैभवको छोड़े हुए रहेंगे तो यह तुम्हारे पीछे पाछे चलेगा और यदि इसको ग्रहण करनेकी चेष्टा की तो यह दूर भागेगा। परद्रव्योंकी अस्वीकारतासे, अचौर्यव्रतके पालनेसे सद्बुद्धि रहती है, संसार कटता है और फिर अन्तमें मोक्षपदकी प्राप्ति

होती है।

दट्ठूण इच्छिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरियवदं ॥५६॥

ब्रह्मचर्यव्रतमें कर्तव्य — व्यवहारचारित्रके प्रकरणमें पंचमहाव्रतोंमें से यह चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रतका स्वरूप है। स्त्रियोंका रूप देखकर उनमें वाञ्छा परिणामका न करना अथवा मैथुनसंज्ञारहित जो परिणाम हैं उसे ब्रह्मचर्यव्रत कहा है। ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करने वाले पुरुषको शील के नव वाड़ोंकी भी रक्षा करनी चाहिए। कामनीय स्त्रीजनोंके मन हरने वाले अंगोंका निरीक्षण भी न करना चाहिए। यद्यपि बाह्यपदार्थोंके प्रसंग से विकार नहीं होते किन्तु स्वयंके परिणामसे विकार होते हैं, फिर भी विकारपरिणामोंके साधनभूत, विषयभूत बाह्यपदार्थ हैं। इस कारण चरणानुयोगकी पद्धतिसे बाह्यपदार्थोंका प्रसंग भी दूर करना चाहिए।

सुन्दरताका मूल— एक पौराणिक घटना है, एक नगरका राजपुत्र शहरमें भ्रमण कर रहा था। उसे किसी सेठके घरपर एक वधू दीखी, वह रूपवती थी। राजपुत्रके मनमें कामवासना जागृत हुई। अब वह न खाये, न पिये, उस ही बेवकूफीकी धुनमें राजपुत्र कष्ट सहने लगा। किसी दासी ने पूछा कि आखिर ऐसा कौनसा कठिन काम है जिस पर तुम इतने उदास हो? कारण पूछा तो राजपुत्रने बता भी दिया। दासी बोली कि हम इस कार्यकी पूर्ति करेंगी। वह सेठके घर पहुंची। उस वधूसे बात कही। वधू सुशील थी। उसने निषेध किया। दासीने कहा—अच्छा एक बार इस राजपुत्रसे वार्ता तो करलो। ठीक है, कह कर वधू ने समय दिया। वधूने राजपुत्रसे कहा कि तुम १५ दिन बाद हमारे मकान पर पधारना। १५ दिन में उस वधूने क्या किया कि दस्तोंकी दवा ली जिससे खूब दस्त लगे। और दस्त एक मिट्टीके मटक में किया करे। १० दिनमें ही वह घड़ा मलसे भर गया और उस घड़ेके ऊपर रंग विरंगे चमकीले कागज आदिक लगाकर उसे बहुत सुहावना बना दिया। अब १५ वें दिन वह राजपुत्र आया तो उसे देखा तो बिलकुल दुबली पतली, हड्डी निकली और सूरत भी बिगड़ी थी। राजपुत्र देखकर बड़े आश्चर्यमें पड़ा। खैर, वह वधू कहती है कि इस शरीरसे इन हड्डियोंसे प्रीति हो तो इन हड्डियोंको निरखलो और मेरी सुन्दरता पर तुम मोहित हो तो चलो हमने अपनी सुन्दरता जहां रख दी है, दिखायें। वह ले गयी अपनी सुन्दरताका मूल दिखाने। कहा उस मटके को खोलो—उसके अन्दर सारी सुन्दरता भरी रक्खी है, उस सुन्दरतासे तुम प्यार कर लो। ज्यों उसने खोला कि सारा कमरा दुर्गन्धसे भर गया।

संसारी सुभट का पराक्रम— भैया ! क्या है इस शरीरके अन्दर। परन्तु रागभावका उदय होता है तो कुरूप भी, बदशकल भी इसे सुहावना लगने लगता है। ज्ञान विवेक यदि बना हुआ है तो ऊँचेसे ऊँचे रूपमें भी उसे सब असार ही नजर आता है। क्या है, भीतरसे बाहर तक सर्वत्र अपवित्र अपवित्र ही पदार्थ है। विधिने तो यह मनुष्य शरीर मानों अपवित्र इसीलिए बनाया था कि यह जीव, यह मनुष्य ऐसे असार शरीरको देखकर ज्ञान और वैराग्यमें बढ़ जायेगा, किन्तु देखो इस संसारी सुभटका पराक्रम यह व्यामोही मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे अपवित्र शरीरमें भी पवित्रता और हितकारिता का अनुभव बनाये जा रहा है।

ब्रह्मचारीकी शुचिता व व्यभिचारीकी अशुचिता— ब्रह्मचर्यके समान और व्रत क्या है ? ब्रह्मचारी पुरुषको सदा पवित्र माना गया है। व्यभिचारी जीव मल-मल कर भी खूब साबुनसे नहायें तो भी वे पवित्र नहीं कहे जा सकते। हां श्रावकजनोंके स्वदार संतोषव्रत होता है। श्रावकजन केवल अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही संतुष्ट रहते हैं और वहां भी कामवासना अधिक नहीं रखते। वह कुछ भला है किन्तु पूर्ण पवित्रता पूर्ण ब्रह्मचर्यमें है। वेश्यागामी पुरुषको, परस्त्रीगामी पुरुषको सदा सूतक बताया गया है। जैसे धर्ममार्गमें सूतक पातक लगता है जन्मके १० दिन तक अर्थात् बच्चा जिसके घरमें पैदा होता है वह १० दिन तक भगवान्का अभिषेक न करे, अष्टद्रव्योंसे पूजन न करे आदिक कुछ रुकावटें की जाती हैं। साधुको पात्र में आहार दान न दें। ऐसे ही मरणकालमें १२ दिनका पातक लगा करता है और बारहवें दिनके बाद तेरहवें दिन वह शुद्ध हो जाता है। यह तेरहवां दिन साधुको आहार करानेका है जिसे लोग कहते हैं तेरहवीं। वह तेरहवीं तो साधुवोंका हक है, पर साधुवोंका हक छुड़ाकर पंचोंने अपना हक कर लिया। १२ दिन तक पात्र दान नहीं कर सकता, तेरहवें दिन पात्रदान करेगा। तो जन्म और मरणमें १०-१२ दिनके ही सूतक पातक होते हैं किन्तु जो व्यभिचारी है, परस्त्रीगामी है अथवा परपुरुषगामिनी स्त्री है, या वेश्यागामी पुरुष है या स्वयं वेश्या है, इनको तो जिन्दगी भरका सूतक पातक है। उनको अधिकार नहीं दिया गया कि वे अभिषेक करें।

गृहस्थोंका कर्तव्य स्वदारसंतोष व्रत व अधिकाधिक पूर्ण ब्रह्मचर्य— गृहस्थजनोंके स्वदार संतोष व्रत तो नियमसे होना चाहिए। स्वस्त्रीके सिवाय अन्य किसी स्त्रीके प्रति खोटा परिणाम भी न रखना, काम

सम्बन्धी यह व्रत तो प्रत्येक गृहस्थके होना ही चाहिए। न हो यदि यह व्रत तो उससे केवल एक ही नुक्सान नहीं है, सारे नुक्सान हैं। प्रथम तो उसका चित्त अस्थिर रहेगा क्योंकि परस्त्री दूसरेके अधिकारकी स्त्री है उससे छिपकर चोरी-चोरी कहीं अवसर बनाकर कितनी विडम्बनाएं करेगा, उसका चित्त स्थिर नहीं रह सकता। फिर दूसरे कामवासनाकी अधिकताका बंध है। फिर पिटाई भी लगे, जेल भी जाय, कहो जान भी चली जाय। दूसरे पुरुषको मालूम होने पर वह गम न खायेगा। वह तो जान लेनेकी सोचेगा। ये सारे नुक्सान हैं और धर्मधारण करनेका तो पात्र ही नहीं हो सकता, इसलिए स्वदारसंतोषव्रत तो श्रावकके होता ही है, परन्तु स्वदारामें भी ब्रह्मचर्यका घात बहुत कम करे, अधिकाधिक ब्रह्मचर्य का पालन करे। अब इस भादोंमें सोलह कारणव्रत आयेंगे, ऐसे व्रतोंमें ब्रह्मचर्यका पालन करें। यह चातुर्मास सम्बन्धी वातावरण भी धर्मपालनके लिए बना है। तो भाद्रमास भर तो पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन नियमसे होना चाहिए।

ब्रह्मचर्यका प्रभाव— भैया! ब्रह्मचर्यमें अनेकगुण हैं—बुद्धि व्यवस्थित रहे, सदा निर्भयता रहे, आत्मसाधनका पात्र हो सके। पचेन्द्रियके विषयोंमें यद्यपि रसनाका विषय, घ्राणका विषय, नेत्रका विषय और कर्ण का विषय ये भी विषय ही हैं, किन्तु इन विषयोंको अलगसे कहा, पापमें नहीं दिखाया और एक स्पर्शन इन्द्रियका विषय जो कामसेवन है उस कामसेवनको क्यों दिखाया? इसका कारण यह है कि अन्य विषयोंके प्रसंगमें भी कदाचित् गुणी पुरुषों को होश रह सकता है, विवेक रह सकता है किन्तु कामसेवनके प्रसंगमें विवेकका रहना बहुत कठिन है। इस कारण इस कुशीलको अलगसे पापमें गिनाया गया है। 'जहां सुमति तहं सम्पति नाना; जहां कुमति तहं विपति निधाना।' सुमति हमारी बन सके, उसका मूल उपाय तो ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्यके घातमें हानिकी सूचना— किसी कविने लिखा है—कोई उपदेश दे रहा था कि ब्रह्मचर्यका पालन करो। किसीने पूछा महाराज हम ब्रह्मचर्यका पूर्णपालन न कर सकें तो? अच्छा वर्षमें दो चार दिन छोड़ कर बाकी समय तो ब्रह्मचर्यका पालन करो। कोई दूसरा पूछने लगा। इतना भी हम नहीं कर सकते तो? अच्छा तो एक माहमें दो तीन दिन छोड़कर बाकी सब दिन तो ब्रह्मचर्यसे रहो और इतना भी न कर सकें तो १०–५ दिन और बढ़ा लो। और इतना भी न कर सकें तो? भाई ऐसा करो कि पहिले बाजारसे जाकर कफन खरीदकर ले आवो, अपने घरमें

धर लो और फिर जो मनमें आए सो करो।

ब्रह्मचर्य तपके अभावमें बरबादी—ब्रह्मचर्यके समान तप क्या होगा ? वह पुरुष धर्मात्मावोंका प्यारा है, भगवान्का भक्त है, मोक्षमार्गका पथिक है जो ब्रह्मचर्यव्रतका बहुत आदर करता है। देखो और विषयोंके सेवनमें बल वीर्य नहीं घटता, आत्मबल तो वहां भी घटता है किन्तु कुशील सेवनमें शक्ति भी घटे और अनेक विपत्तियां भी आयें। चलो भोजन किया बढ़िया रसीला खाया, रस खाया, शरीर पुष्ट होगा, थोड़ा मान लो, पर कुशीलसेवनसे लाभ कौनसा मिला ? शरीरबल भी घटा, और दो चार मिनटके कामसेवनके ध्यानमें रहकर दो चार घंटे भी बरबाद किये, दिमाग बिगड़ गया, कर्म बंध भी विकट हो गया, सारे नुक्सान ही हैं। फिर भी यह व्यामोही जीव अपनी बरबादीको नहीं देखता है और मूढ़ता के ही कार्य करता है। ब्रह्मचर्यको परम तप बताया गया है। और तप ही क्या, जितने भी गुण हैं, तप, आत्मतेज, धन, बल सब कुछ इस ब्रह्मचर्य पर आधारित हैं। मनुष्यको सत्संगका बड़ा ध्यान रखना चाहिए। कभी ऐसी खोटी गोष्ठीमें न रहें जिस गोष्ठीमें रहकर इसका ध्यान बिगड़े, खोटी बातोंकी ओर चित्त जाय।

खोटी गोष्ठीका असर—पूर्व कालमें एक चारुदत्त सेठ हो गये हैं, वे बड़े नम्र विनयी धर्मात्मा थे। चारुदत्त जब कुमार थे, छोटी उम्रके थे, किशोर अवस्थाके थे तब शादी हो गयी, परन्तु स्त्रीके साथ रहें ही नहीं। कुछ जानते भी न थे, इतना प्राकृतिक सुशील थे। लोग बड़े हैरान हुए कि इस चारुदत्तको कामकी वासना कैसे जगे, इनमें कामकी प्रकृति कैसे आये ? बहुत उपाय किया घरमें, पर कुछ सफलता न मिली। तो सलाह करके चारुदत्तके चाचाने ऐसा सोचा कि इसे वेश्यावोंकी गलीमें से ले जाया जाये, और सामने से एक दुष्ट मदोन्मत्त हाथीको छोड़ा जाय तो उस विपत्तिके प्रसंगमें इसे वेश्याके घर ले चलेंगे। वेश्याएं तो बड़ी नटखट होती है, इसे वश कर लेंगी। ऐसा ही किया। एक सकरी गलीमें चारुदत्त को ले गए और सामने से एक हाथी छुड़वा दिया। चारुदत्त और चाचा दोनों वेश्याके घर पहुंचे। चाचा को कोई प्रयोजन न था, चारुदत्तको मात्र फंसानेका भाव था। वेश्या जुवाकी चीज सामने रखकर कहने लगी, चाचा जी खेलिये ना, चाचा जी चौपड़ खेलने लगे। चारुदत्त बैठ गया। उसने भी सीख लिया, चारुदत्तने कहा कि तुम भी कोई गोट फेंको, लगावो अपने दांवमें, तो थोड़ा उसे भी खिलवाया। इतनेमें चाचा तो कोई बहाना करके थोड़ी देरको घरसे निकल गये और यहां चारुदत्तकी बुद्धि खराब हो

गयी! उस वेश्याकी लड़की ने उससे प्रेमालाप किया और ऐसा संकल्प किया कि हम तुम्हारे सिवाय अन्य किसी पुरुषके साथ प्रीति न रक्खेंगी। इस तरहसे वह फंस गया। घर आता रहा और जाता रहा। और जितना भी घरमें धन था सब चारुदत्त ने बरबाद कर दिया। फिर अंतमें उनका सुधार हुआ, त्याग हुआ, सब कुछ हुआ, पर देखो तो सही कि जिसको कुछ भान भी न था, जानता भी न था, बड़ा सुशील पुरुष था, वह भी खोटी संगतिमें आकर अपने पदसे च्युत हो गया।

शीलभावकी निर्मलता— महाराज सुनाया करते थे कि एक गरीबिनीके २ लड़के बनारसमें पढ़ रहे थे। बोर्डिंग हाउसमें रहते थे मुफ्त ही पड़ते थे। वे गरीब थे, वे दोनों एक ही बिस्तरमें सोते थे। एक ही साथ पढ़ते थे। बड़े बुद्धिमान् थे। तो कई वर्षों तक खूब पढ़ा। बादमें बड़े लड़के की शादी हो गयी, घर रहे, पर कुछ जाने नहीं खोटी बातको। तो बहूने ननदको कहा, ननदने मां को कहा, मां ने कहा कि बेटा तुम्हें उसी कमरेमें रहना चाहिए। क्यों मां? अरे बेटा वहां रहा ही जाता है। एकांत कमरे में ही रहना चाहिए और एक ही संग सोना चाहिए। उससे क्या होता है? अरे उससे संतान होती हैं, कुल चलता है, तो लड़का बोलता है कि मां तू बड़ी झूंठी है। अरे एक साथ सोने से बच्चे हों तो ५–७ वर्ष हम दोनों भाई बनारसमें एक साथ सोये तो अभी तक बच्चे क्यों न हुए? तो देखो वह बालक कितनी निर्मलतासे भरा हुआ था। सिखाते-सिखाते भी खोंटी बात न आने पाये, ऐसे पुरुष भी हुआ करते हैं।

ब्रह्मचर्यकी पवित्रतासे नरजन्मकी सफलता— ब्रह्मचर्यसे बढ़कर और पवित्रता किसे मानते हो? साधुजन ब्रह्मचर्यकी मूर्ति हैं और इसी कारण वे स्नान भी नहीं करते तो भी उनका शरीर पवित्र माना जाता है और पूजा जाता है। जीवनमें एक इस ब्रह्मचर्यका अधिकाधिक पालन करो। इससे नर-जन्मकी सफलता पायेंगे। नहीं तो यह समय गुजर जायेगा, मरणकाल निकट आ जायेगा। गुजर गए, किन्तु ब्रह्मचर्यकी साधना न कर सके, उस मलिनताके ही परिणाममें वश कर जीवन खो दिया तो क्या लाभ पाया? जिनकी आयु अधिक है, जो ४०, ४५ वर्षके हो गए, ऐसे गृहस्थजनोंको तो मय स्त्रीके आजन्म व्रत ले ही लेना चाहिए। कौनसी कठिनाई है, उससे लाभ अनेक हैं, और जो युवकजन हैं उनको भी पर्वोंके दिनोंमें अष्टमी, चतुर्दशी, दशलाक्षणी, अष्टाह्निका तीनोंमें ऐसे पर्वोंमें ब्रह्मचर्यका नियम रखना और साथ ही महीनामें तीन, चार दिन की छूट रखकर बाकी सब दिनोंमें ब्रह्मचर्य व्रत रखना चाहिए और इसमें

धारणके बाद जब तक बालक दो वर्षका न हो जाये, १॥ वर्षका न हो जावे तब तक ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। अपने कर्तव्यसे चूके तो वहां केवल अपना ही अनर्थ नहीं किया गया, दूसरेका भी अनर्थ किया। फिर कामसेवनमें तत्त्व क्या निकला ? क्या मिल गया ? धनी बन गये अथवा शरीरबल बढ़ गया ? बल्कि धनका भी नुक्सान, शरीरबलका भी नुक्सान और आंतरिक ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मदेवसे भी हाथ धोया। सारे नुक्सान ही होते हैं।

दीनवृत्ति— इस कल्पित विषयसुखके सम्बन्धमें क्षत्रचूड़ामणिमें यह लिखा है कि इस विष्टा, मल, मूत्र आदिकसे वेष्ठित इस चर्मके साथ यह वराक दीन प्राणी कामसेवन करता हुआ, अपनेको सुखी मानता हुआ गड्ढेमें, बरबादीमें गिरा रहा है, इसकी इसे खबर भी नहीं है। कामनियों में किसी प्रकारका कौतूहल न करे हँसी मजाक भरी बात न बोले, चित्तमें उनकी वाञ्छा न रखे और ब्रह्मचर्यका पालन करे।

गृहस्थका ब्रह्मचर्याणुव्रतमें ही भला गुजरा— भैया ! एक बात और जानियेगा कि जो स्त्री अच्छी है, कुलीन है, रूपवती है, वह स्त्री तो किसी परपुरुषको चाहती भी नहीं है। जो चाहने वाली होगी परपुरुषको, वह अनेक अवगुणोंसे भरी हुई होगी। रूप भी उत्तम नहीं होता है कुशील स्त्री का और भाव परिणाम भी ऊँचा नहीं होता। आकर्षण हुआ करता है तो गुणोंके साथ हुआ करता है। कोई बालक काला भी हो, थोड़ा गन्दा भी रहता हो, किन्तु विनयशील हो, क्षमावान् हो, चतुर हो, आपकी सेवा करे तो आपको वह बालक कितना प्रिय लगता है और कोई बालक रूपका बड़ा सुन्दर हो तो उस रूपको खाना थोड़े ही है; जबकि वह गाली बोलता है, छल कपट करता है और आपका नुक्शान किया करता है, गुस्सा भी हो जाता है तो ऐसा बालक आपको सुहायेगा क्या ? नहीं सुहायेगा। तो गुणोंके साथ लौकिक बातों का भी आकर्षण चलता है। जिसमें गुण होंगे, उसके साथ तो कामवासनाका सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। परस्त्री या परपुरुषकी बात कह रहे हैं कि जिससे कामवासनाका सम्बन्ध बन जाये, वह अवगुणोंसे भरा हुआ होगा, वह आकर्षणके योग्य नहीं है। इसलिये एक यह निर्णय रखना कि गृहस्थजन स्वदारसंतोष व्रतका पालन करें और जिनके स्त्री नहीं है, वे गृहस्थजन पूर्ण ब्रह्मचर्यका अन्तरङ्गसे पालन करें।

ब्रह्मचर्य परमदेवता— यह ब्रह्मचर्य व्रत उत्तमतासे वहां होता है कि पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद नामकी जो कषायें हैं, उनके तीव्र उदयमें जो

मैथुन संज्ञाके परिणाम होते हैं, उनका त्याग जहां रहे। पवित्र परिणाम जहां रहता है, वहां कामका भाव ही न रहे तो ऐसे सन्त पुरुषोंमें ब्रह्मचर्य व्रत होता है। इस ब्रह्मचर्य व्रतकी पूजा करें, इसका आदर करें। जैसे कि अहिंसाव्रत हमारे आदरके योग्य है ऐसे ही ब्रह्मचर्यव्रत हमारे आदर करने के योग्य है। अहिंसाको देवताका रूप कहा है, अहिंसाको ब्रह्म कहा है। अहिंसा नाममें तो ब्रह्म लगाना पड़ा, पर ब्रह्मचर्यमें तो ब्रह्म शब्द पहिलेसे ही लगा हुआ है। अतः ब्रह्मचर्य परमब्रह्म है।

परमार्थ आचरण—भैया! ऐसी वृत्ति रखो कि तुम्हारे व्यवहारको देख कर दूसरे जन भी ब्रह्मचर्यव्रतमें उत्साही हों। शुद्ध मनसे अपने ज्ञानस्वरूप ब्रह्मका आदर करें और यह मनमें परिणाम रक्खें कि मुझे तो इस निज-ज्ञानस्वरूपब्रह्ममें रमना है। यही है परमार्थ उत्तम ब्रह्मचर्य है। जहां मेरा यह काम पड़ा हुआ है कि मुझे अपने आत्माके स्वरूपमें लीन होना है, ऐसा कामका उद्देश्य करें, वहां किसी परपुरुष या परस्त्रीका रूप देखने का मनमें खोटा परिणाम न करें। ब्रह्मचर्यसे सब कुछ लाभ होगा, सो अधिकाधिक ब्रह्मचर्यका पालन करें, इसमें ही हित है।

शुद्ध आशय बिना वचनोंसे क्या लाभ?—जैसे यश, नाम, कीर्ति की चाह न रखनी चाहिये—ऐसे ही उपदेश करके कोई यश और नामकी चाहका ही उद्देश्य बनाये और लोग कहें कि वाह, कितना वैराग्यपूर्ण उपदेश इसने कहा है? ऐसे यशकी चाहकी मनमें भावना रहे और उस भावनासे ही प्रेरित होकर दुनियाको यश न चाहना चाहिए, यश बुरी चीज है आदिक। इस प्रकारके उपदेश करे तो उसका उपदेश उसके लिये कोई लाभ देने वाला नहीं है। इस ही प्रकार कामनियोंकी शरीर विभूति को, वैराग्य दिलाने वाली बातको सुने और सुनते हुए स्त्रियोंके शरीर वैभवका ही स्मरण रखे अथवा ब्रह्मचर्यकी चर्चामें और देहरूपसे वैराग्य होनेकी चर्चा करते हुएमें स्त्रियोंके मनोहर अंगोंका स्मरण किया करे तो उस चर्चासे और श्रवणसे लाभ क्या हुआ? अरे! लाभ तो कुछ भी नहीं हुआ।

वास्तविक लाभकी दृष्टि—हे मुमुक्षु आत्मन्! तू एक शाश्वत् अनादि अनन्त नित्य प्रकाशमात्र इस कारण सहजपरमात्मतत्त्वकी उपासना छोड़कर अत्यन्त असार क्षणिक सुखके लिये जो कि कल्पितमात्र है, इस क्षणिक मायास्वरूप देहके क्यों व्यामोहको प्राप्त होता है? वास्तविक लाभ वहां होता है, जहां अन्तरङ्गसे सर्वथा पूर्ण दृढ़तापूर्वक कामवासनाका परित्याग करे और एक निजज्ञायकस्वरूप दर्शनकी धुनि बनाये, वही वास्तविक

योगी है, वही परमहँस है। जैसे लोकमें कहते हैं कि परमहँस संन्यासी बाह्य बातोंसे बेखबर रहते हैं। कोई जबरदस्ती खिलावे तो खायं। कहां पड़े हैं, क्या हो रहा है? कुछ सुधि नहीं है। वे अपने ब्रह्मस्वरूपके अवलोकनमें ही लीन रहा करते हैं। ऐसी उत्कृष्ट अवस्था जहां है, निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके ही अनुभवमें चित्त रमा करे, ज्ञान बसा करे--ऐसे योगी संत ही परमार्थब्रह्मचर्यकी मूर्ति हैं।

दृढ़ सत्संकल्प— भैया! दृढ़ताके साथ संकल्प करें कि कामवासना सम्बन्धी बातें, दुर्भाव सम्बन्धी बातें अपनेमें न आने दें--ऐसी दृढ़ साधना के साथ ब्रह्मचर्यव्रतका पालन साधु-संत-महन्तोंके होता है। सर्वव्रत तप साधनाओंका मूल यह ब्रह्मचर्यव्रत है। कल्पना करो कि कोई पुरुष ब्रह्मचर्य व्रतका तो पालन नहीं करता, किन्तु परस्त्रीगमन, वेश्यागमन आदि बहुत चस्के लगे हैं और वह धर्मकार्यमें आगे आगे बढ़े, पूजन विधान समारोह, यज्ञ, मन्त्र, होम, पूजा आदि सब करे तो बताओ तो सही कि उन सब कर्तव्योंका वहां पर क्या अर्थ है? और एक पुरुष ब्रह्मचर्यका सच्चा पालक है, स्वप्नमें भी कामवासना जागृति नहीं होती है, ऐसा पुरुष तो स्वतः ही धर्मात्मा है।

शुद्ध आशयकी भावना— धर्म तन-मन वचनकी चेष्टासे नहीं हुआ करता है। धर्म तो आत्माके शुद्ध आशयमें है। ऐसी प्रार्थना करे आत्मप्रभुसे, परमार्थप्रभुसे कि हे नाथ! और चाहे जितने संकट आ जायें, पर चित्तमें दुर्भाव उत्पन्न न हों। शुद्ध ज्ञायकस्वरूप निजब्रह्ममें आचरण करने का नाम परमार्थब्रह्मचर्य है। इस परमार्थब्रह्मचर्यकी साधनाके लिये जो शीलव्रत अंगीकार किया गया है, वह ही ब्रह्मचर्य महाव्रत है। अब इस ब्रह्मचर्य महाव्रतके वर्णनके बाद परिग्रह त्याग महाव्रतका स्वरूप कह रहे हैं—

सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पञ्चमवदमिदि भणियं चारित्तभरं वहंतस्स ॥६०॥

परिग्रहत्यागकी निरपेक्षतापूर्वकता— निरपेक्षभावनापूर्वक समस्त परिग्रहोंका त्याग करना, इसका नाम है परिग्रहत्याग महाव्रत। जब तक निरपेक्ष वृत्ति न जगेगी, तब तक परिग्रहत्याग सच्चे मायनेमें नहीं हो सकता। कोई पुरुष इस उद्देश्यसे कि साधु संतोंका आदर होता है, इसलिए घरको छोड़कर परिग्रहका त्याग करके साधु बन जाना चाहिए तो क्या वह परिग्रह त्यागी है? भले ही घरद्वार छोड़ दे, धन वैभव छोड़ दे, किन्तु लोकमें मेरा सम्मान भी हो और बड़े आरामसे जीवन भी चले,

यह जहां लक्ष्य होता है वह तो महापरिग्रह पाप है।

अन्तरङ्गपरिग्रहत्यागमें वास्तविक निष्परिग्रहता— इस पौद्गलिक परिग्रहने क्या कसूर किया है? वह तो रूपी पदार्थ हैं, कुछ आपसे बोलते चालते भी नहीं हैं। इन जड़ पदार्थोंके त्यागसे परिग्रहत्याग नहीं कहलाता, किन्तु चित्तमें किसी भी परतत्त्वकी वाञ्छा न करने से परिग्रहत्याग कहलाता है। इसी कारण परिग्रहके २४ भेद बताये हैं। १० तो बाह्य परिग्रह हैं और १४ अंतरङ्ग परिग्रह हैं। बाह्यपरिग्रहोंका त्याग आभ्यंतर परिग्रहसे निवृत्त होनेके लिए है, और आभ्यंतर परिग्रहका त्याग ही वास्तविक परिग्रहत्याग है। यों तो कोई कहे कि हमारी थालीमें जो भोजन न परसा जाय उसका मेरे बिल्कुल त्याग है, अरे अन्तरकी कल्पनाका त्याग है तो त्यागी है। चित्तमें तो बना हैं कि अमुक चीज कितनी अच्छी बनी है और चौके में भी रक्खी है, ये लोग परोसते क्यों नहीं हैं? अरे अंतरङ्गमें तो कल्पनाकी उड़ानें चलें तो वहां कैसे त्यागी कहला सकेगा?

त्यागका प्रयोजन— भैया! त्याग किया जाता है अपने आपके ज्ञानसुधारसको छककर पीनेके लिए, आनन्दमय होनेके लिए। त्यागका प्रयोजन कष्ट नहीं है, त्यागका प्रयोजन शुद्ध आनन्दका अनुभव करना है। यों समझिये कि मामूली चीज रखनेसे यदि बड़ी चीजका अलाभ होता है और मामूली चीजके छोड़ने से बड़ी चीजका लाभ होता है तो विवेकी पुरुष उस मामूली चीजको छोड़नेमें जरा भी न हिचकेंगे। ज्ञानी संतकी ऐसी ही वृत्ति है। ये जगतके विषय सुख अत्यन्त असार और पतनके कारण हैं। परिग्रहकी ममतामें जकड़ना, किसी स्त्री एवं पुरुषके स्नेहमें बंध जाना, ये सारी बातें बरबादीकी ही हैं। लाभ कुछ नहीं होता।

ज्ञानियोंका अन्तर्बल— ज्ञानीपुरुषोंके अन्तरंगमें अपूर्व बल होता है। जैसे कि ज्ञानीपुरुष देवांगनावोंके रूपको निरखकर अपनी वृत्तिसे शुद्ध भावोंसे चलित नहीं होता है ऐसे ही ज्ञानीपुरुष दूसरेके करोड़ों और अरबोंके वैभवको देखकर चलित भी नहीं होते, आश्चर्यचकित भी नहीं होते, क्योंकि वे जानते हैं कि इन्होंने इतनी धूल लपेट रक्खी है। रत्न जवाहिरात अमूल्य चीजें इनके पास हैं—इस दृष्टिसे वे ज्ञानी नहीं निरखते हैं। क्या होगा उन अमूल्य जवाहरातोंसे? प्रयोजन तो जीवनमें दो रोटियोंका है। इतना सारा नटखट परिग्रह ये सब किस लिए रख रहे हैं धनी पुरुष? वे तो इस जगत देवताको प्रसन्न करनेके लिए धन वैभव बढ़ा रहे हैं। ये मायामय लोग हाड़ मांस नाक कान वाले लोग मेरी बड़ाई कर दें, इतनी तुच्छताके लिए इस जीवनमें धनसंचय करनेका बेजोड़ परिश्रम

किया जा रहा है। रहेगा अंतमें कुछ नहीं।

निरपेक्षतामें ही कल्याण— निरपेक्ष वृत्ति ही परम अमृत है। पर पदार्थोंसे निरपेक्षताका भाव जगे तो परिग्रहका त्याग बन सकता है अन्यथा नहीं। बड़े लोग निरपेक्ष वृत्ति तो रखते नहीं और अपनी इज्जत बढ़ानेके लिए अथवा जीवनमें अच्छे भोजनका लाभ लेनेके लिए परिग्रहका त्याग कर देते हैं उन्हें आजीवन शांति नहीं मिल पाती, क्योंकि जैसा उद्देश्य बनाकर काम किया जाय उसके अनुसार अन्तर्भावना बना करती है। ओह, निरपेक्ष वृत्ति वाले पुरुष तो यह चाहते हैं कि लोगोंका जमघट मेरे पास न रहे, लोगोंके द्वारा की जाने वाली बड़ाई मेरे सुननेमें मत आये। वे तो अपने आपमें अत्यधिक एकांत चाहते हैं। परिग्रह केवल पैसेका ही नहीं है किन्तु आत्मस्वभावके रमणके अतिरिक्त अन्य कुछ चाह करना वह सब परिग्रहके अन्तर्गत हैं। मूर्छा परिग्रह है, बेहोशीका नाम परिग्रह है, ममता परिणामके न होनेको, निरपेक्षताके होनेको निष्परिग्रहभाव कहा गया है।

निरपेक्षताका यत्न सम्यक् अवबोधन— भैया! जैसे निरपेक्षता जगे उस कार्यके यत्नमें अधिक लगना चाहिए। निरपेक्षताका प्रतिपक्षी है सापेक्षता अर्थात् परपदार्थोंकी अपेक्षा बनाए रखना, परपदार्थोंकी अपेक्षा तब बनायी जाती है जब यह ख्याल हो कि मेरा बड़प्पन, मेरा जीवन, मेरा सुख, मेरा सब कुछ भला होनेकी बात परपदार्थोंके आधीन है, ऐसा मनमें ख्याल हो तो परपदार्थोंकी अपेक्षा रक्खी जाती है। यदि निरपेक्षता चाहते हो अर्थात् परपरपदार्थोंकी अपेक्षा न रहे, ऐसी स्थिति चाहते हो तो सम्यग्ज्ञान बनाना आवश्यक है।

अवबोध्य यथार्थस्वरूप— प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही वह है, किसी अन्यके द्रव्यक्षेत्र काल भावसे नहीं है। जगत्में अनन्तानन्त तो जीव हैं। जैसे हम आप एक-एक मनुष्य हैं, पशु पक्षी एक-एक जीव हैं, कीड़ा मकौड़ा वनस्पतियां ये भी अनन्तानन्त हैं। अनन्तानन्त तो जीव हैं और जीवोंसे अनन्तानन्त गुणे पुद्गल हैं, परमाणु हैं, क्योंकि सिद्धोंसे अनन्तगुणे तो ये संसारी जीव हैं, और एक-एक संसारी जीवके साथ अनन्तानन्त कर्म परमाणु बंधे हैं और अनन्तानन्त ऐसे कार्माण परमाणु भी लगे हुए हैं जो अभी कर्म रूप तो नहीं हुए किन्तु कर्मरूप हो सकेंगे और फिर शरीरमें अनन्त परमाणु हैं। एक जीवके साथ अनन्त परमाणु हैं। तब समझ लीजिए कि जीवोंसे अनन्तानन्तगुणे पुद्गल हुए या नहीं? एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म

द्रव्य, एक आकाश द्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। ये समस्त प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपमें हैं, अपने स्वरूपसे ही परिणमते हैं, फिर मेरा अन्य वस्तु पर क्या अधिकार? किसी अन्य वस्तुका मेरे पर क्या अधिकार? सर्व स्वतंत्र हैं।

किसी पदार्थके द्वारा परपदार्थके कर्तृत्वका अभाव— भैया! किसी भी पदार्थका काम किसी अन्यपदार्थके द्वारा नहीं चलता। मेरा भी कार्य किसी अन्य पदार्थके द्वारा नहीं चलता। कुछ मान भी लीजिए कि निमित्त-नैमित्तिक भावोंकी दृष्टिसे वो कोई परपदार्थ मेरे किसी कार्यमें निमित्त होता है तो वह विभावके कार्यमें निमित्त होता हैं, मेरे हितमें निमित्त नहीं होता है। तब किसकी अपेक्षा रखना? ऐसी निरपेक्ष वृत्तिका आत्मा जिस का हो उस ज्ञानी संतके ही त्याग कहा जाता है।

निरपेक्षवृत्तिका एक प्रसिद्ध पौराणिक उदाहरण— निरपेक्ष वृत्तिका पुराणमें एक उदाहरण है। यद्यपि भरत चक्रवर्तीके परिग्रहका त्याग न था तो भी सम्यग्दर्शनके प्रकाशके कारण उनके अन्तरमें बहुत ऊंची निरपेक्ष वृत्ति थी। एक बार किसी जिज्ञासुने मंत्रीसे प्रश्न किया कि लोग यह कहा करते हैं कि भरतजी घरमें भी विरागी हैं, यह कैसे हो सकता है? तो उनको इसका प्रमाण कराने के लिए उपाय किया। भरत चक्रवर्तीके मंत्री बोले कि तुमको यह तेलसे भरा कटोरा दिया जाता है, इसे हथेलीमें रक्खे हुए चक्रवर्तीके सारे वैभवको देख आवो और झूठमूठ पहिले से सिखा दिया था, सो पहरेदारोंसे कहा—देखो तुम चार पहरेदार इस जिज्ञासु मनुष्यके चारों ओर चलकर इसे चक्रवर्तीके सारे वैभवको दिखा लाना, और देखो एक भी बूँद तेल अगर कटोरेसे गिरे तो इनका सिर उड़ा देना। गये वे तेलका कटोरा लिए हुए, चक्रवर्तीका सारा वैभव देख आये और वापिस आ गये। मंत्री ने पूछा—बोलो भाई तुम घुड़शालामें गये थे? हां गये थे। कितने घोड़े हैं और कैसे घोड़े हैं? बोला यह कुछ हमें पता नहीं है। हमें तो इतना ज्ञान है कि अश्वशालामें गये और तुम अंतःपुरमें भी गये थे, रानीके महलोंके मुहल्लेमें? हां वहां भी गये। बतलावो कैसे महल हैं, कैसी रानियां थीं? बोला—यह मुझे कुछ पता नहीं। इतना सामान्य ज्ञान है कि हम रानियोंके महलमें भी गये थे। क्यों जी तुम्हें सारी बातें विशेष क्यों नहीं मालूम? जिज्ञासु बोला कि मेरा सारा ध्यान इस तेलके कटोरे पर था कहीं बूंद न गिर जाय, नहीं तो मेरी जान चली जायेगी। तो मंत्रीने समझाया कि भरतचक्रवर्तीका ध्यान केवल एक आत्महितमें लगा रहता है, संसारकी असारता और निज आत्मस्वरूपकी

सर्वस्वसारता इनके ध्यानमें वसा करती है। उदय है पुण्यका, ६ खण्डकी विभूति है, सो उसमें पड़े हुए हैं, किन्तु ध्यान इनका हितकी ओर है और ऐसा होता है। तभी तो कोई कोई बड़े बड़े राजा महाराजाधिराज चक्री सारे वैभवको एक बारमें ही सर्वथा छोड़कर एक इस निर्ग्रन्थव्रतमें उपयोगी हुए हैं।

आनन्दका स्रोत निजके अन्तरमें— भैया ! जो आनन्द अपने आपकी उपासनामें हैं, वह कहीं बाहर है क्या ? धन वैभवको जोड़नेकी मनमें चिंता कल्पना बनाना यह तो बिलकुल उचित नहीं है। गृहस्थोंका क्या कर्तव्य है ? कर्तव्यको जानकर समय पर उस कर्तव्यको कर लें। क्या होगा ? जो होगा सब ठीक होगा। जो समागम होगा, उसमें ही गुजारा होगा। पर मैं इतना वैभव सञ्चित कर डालूँ तो ऐसी कल्पना मनमें मत लाओ, कर्तव्य करो। कल्पना बना लेनेसे धन नहीं बढ़ जाता है। वह तो आपके थोड़े श्रमसे भी साध्य है, यदि सब कुछ अनुकूल वातावरण है तो। सबसे अधिक भावना होनी चाहिये इसकी कि मैं अपने उस सहजज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें रक्खूँ और समस्त परतत्त्वों और परभावोंका विकल्प छोड़ दूँ—ऐसी स्थिति बने, ऐसे अनुभवके लिये ध्यान रहना चाहिये। मुख्य बात तो इस जीवनमें यह है। यह उसी ज्ञानी सन्तके बात बन सकती है, जो निरपेक्ष वृत्तिका आदर किये हुए हो।

अकिञ्चनकी छायामें समृद्धि— एक जगह धनञ्जय सेठने स्तवन करते हुए कहा कि हे भगवन् ! तुम अकिञ्चन हो, तुम्हारे पास कुछ नहीं है, न घर है, न स्त्री है, न कुटुम्ब है, न पैसा है, तुम अकिञ्चन हो, लेकिन अकिञ्चन होने पर भी आपसे जो लाभ हो सकता है, वह बड़े बड़े समृद्धिशाली पुरुषोंसे भी नहीं हो सकता है। वह कैसे ? इसका एक उदाहरण दिया कि ये पर्वत ऊपरसे देखो तो इन पर जलकी एक बूंद नहीं है; बिलकुल तपते हैं, पैर जलते हैं उन पर चलनेसे। ये पर्वत जलकी ओरसे शून्य हैं, अकिञ्चन हैं, कुछ भी इन पर नहीं है, लेकिन नदियां निकलती हैं तो पर्वतोंसे ही निकलती हैं। समुद्र जलसे लबालब भरा हुआ है, किन्तु उसमेंसे एक भी नदी नहीं निकलती। यों ही हे नाथ ! आप अकिञ्चन हो, किन्तु आपसे जो लाभ हो सकता है, वह लोकमें समृद्धिशाली पुरुषोंसे भी नहीं हो सकता है।

आकिञ्चन्यका अवलोकन और प्रयोग— जरा और भी अन्तरङ्गमें प्रवेश करके देखो कि हम और आप सबका भी आत्मा अकिञ्चन है, इसमें न घर लिपटा है, न कुटुम्ब चिपका है, न देह चिपटा है, यह तो ज्ञानस्वरूप

एक चैतन्यतत्त्व है, अकिञ्चन है। इस अकिञ्चन् ज्ञानमात्र आत्माकी उपासनासे जो आनन्दलाभ हो सकता है वह आनन्द क्या किसी भी धनवैभव या अन्य किन्हीं लोगोंके स्नेहसे हो सकता है? नहीं हो सकता है अनुभव करके देख लो। जब आखिर सब कुछ छोड़कर ही जाना है तो जीवनमें इतनी सद्भावना क्यों न बना ली जाय कि जिसे हम छोड़कर जायेंगे वे सभी चीजें तो अभी भी छूटी हुई हैं, मेरेसे चिपटी नहीं हैं। ऐसे शुद्ध दृष्टि रहे तो समझियेगा कि उससे मैंने लाभ पाया।

निरपेक्षता व परिग्रहत्यागका प्रयोजन आनन्द— निरपेक्षभावना पूर्वक समस्त परिग्रहोंका त्याग हो तो वह चारित्रधारी साधुका पंचम महाव्रत कहलाता है। यह व्रत होता है उन ज्ञानीसंत पुरुषोंके, जो निज कारण परमात्मस्वरूपमें ठहर गए हैं, उनके परिग्रहत्याग होता है। यहां भी त्याग की बात मुख्य नहीं है, मुख्य बात है आनन्द पानेकी। आचार्यदेव आपसे कुछ त्याग करवाना नहीं चाहते। वहां उपदेश है कि तुम अनन्त आनन्द प्राप्त कर लो जिस विधिसे बने। अनन्त आनन्दका अभ्यास यह स्वयं आत्मस्वरूप है, सो आत्मस्वरूपमें आपकी प्रखर दृष्टि हो जाय तो आपका कल्याण हो गया जानिये। अब आत्मस्वरूपकी प्रखर दृष्टिमें पैसा चिपक सके तो चिपकाये रहो। त्याग कराने की बातकी मंशा नहीं है। मंशा है आत्मीय परम शुद्ध आनन्दकी प्राप्ति करानेकी। चाहिए क्या? जैसे कहते हैं कि आम खाना कि पेड़ गिनना। अरे तुम्हें आनन्द चाहिए है कि श्रम चाहिए है? आनन्द चाहिए तो आनन्दके पथको देखो, शुद्धज्ञान स्वरूपको निहारो।

निष्परिग्रह स्वभावका आलम्बन— भैया! स्वयं ही आनन्दस्वरूप है इस आत्मदेवको बाह्यमें कहां खोज रहे हो? जब तक चित्तमें ऐसा साहस न होगा कि मेरा तो एकाकी शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, यदि बाहरकी चीजें छूटती हैं तो छूटने दो। बड़े-बड़े पुरुषोंने जान जानकर परिग्रहको छोड़ा और हमारा किसी कारणसे छूट जाता है तो वह तो मेरे लिए भली बात है। जितना बोझा कम हो उतना ही भला है, इस कारणसमयसारतत्त्वकी दृष्टिके विधानमें समस्त परिग्रहोंका त्याग तो स्वयं ही बना हुआ है। यों स्वरूपमें अवस्थित रहने वाले योगी संतोंके यह परिग्रहत्याग महाव्रत होता है जिसके फलमें अनन्त सुख प्राप्त होता है।

परिग्रहत्यागमें मुक्तिकी परम्परया कारणता— जो संयमी पुरुष निश्चयव्यवहारात्मक विशुद्धचारित्रके धारण करने वाले हैं उनके बाह्य और आभ्यंतर २४ प्रकारके परिग्रहोंका त्याग है। वह परिग्रहत्याग महाव्रत

परम्परासे मोक्षका कारण हैं। मोक्षका साक्षात् कारण १४ वें गुणस्थानका परिणाम है। जिस समयके बाद जो सिद्धि हुई है उस सिद्धिसे प्रथम क्षण में जो स्थिति होती है वह उसका कारण कहलाता है और फिर नीचेका १३ वां १२ वां गुणस्थान कारण है, क्षपकश्रेणी कारण है, जिस पर चढ़ने का नियम हो जाता है कि यह अवश्य मोक्ष जायेगा। क्षपकश्रेणीके ८ वें गुणस्थानका परिणाम उपशमश्रेणीके ८ वें गुणस्थानसे अधिक विशुद्ध बताया गया है। क्षपकश्रेणी भी मुक्तिका कारण है। उसके पहिले गुणस्थानोंका ऐसा नियम नहीं है कि इस गुणस्थानके पानेके बाद इस ही भव से नियमसे मोक्ष होगा। कहो ७ वें गुणस्थान तक आ जाने पर भी गिरे और पहिले गुणस्थानमें पहुंच जाय गिरते-गिरते और वहां कितने ही सागरों पर्यन्त, कुछ कम अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकाल तक यह जीव वहां रुक सकता है। इस कारण परिग्रहत्यागमहाव्रतको कहा गया है कि यह परम्परा से कारण है।

परिग्रहका लक्षण— परिग्रह शब्दका अर्थ है 'परि समन्तात् गृह्णाति इति परिग्रहः' जो इस जीवको चारों ओरसे जकड़ ले, उसको परिग्रह कहा है। सो देखलो परिग्रहका यह काम है। एक किम्वदन्तीमें कहते हैं कि गुड़ भगवान्‌के पास गया, विनती की कि महाराज हम बड़े दुःखी हैं। क्या दुःख है? हम जब खेतमें खड़े थे गन्नेके रूपमें खड़े थे तब लोगोंने हमें उखाड़-उखाड़कर खूब खाया, वहांसे बचे तो कोल्हूमें पेलकर रस निकालकर खाया। वहांसे बचे तो कड़ाहीमें पकाकर राव बनाकर हमें खाया, गुड़ बनाकर खाया, और गुड़से भी बचे, मुझे किसीने न खा पाया, मैं सड़ भी गया तो भी लोगोंने तम्बाकूमें मिला-मिलाकर खाया तो महाराज मेरे कष्ट दूर करो। तो ऐसे ही किम्वदन्तीके भगवान् होंगे। सो भगवान् बोले कि तू सामनेसे इसी समय हट जा, यही तेरा न्याय है। क्यों महाराज यह कैसा न्याय है? बोले कि तेरी बातें सुनकर तो मेरे मुखमें पानी आ गया। यहां भी तेरी कुशल नहीं है।

परिग्रहकी जकड़— परिग्रह इस जीवको ऐसी कठिनतासे जकड़े हुए है कि यह जीव हिल डुल नहीं सकता। बाह्यपदार्थ इस जीवको नहीं जकड़े हुए है—आभ्यंतर परिग्रहसे जकड़े हैं कषायों द्वारा। घर कहां जकड़े है? घर तो आपसे १, २ फर्लांग दूर है या आसपास है, परिवार कहां जकड़े है, परिवार-परिवारकी जगह है, आप यहां बैठे हैं। जकड़ा है तो कषायभावसे जकड़ा है, दूसरा कोई नहीं जकड़े हैं। किसी गृहस्थने राजा जनकसे निवेदन किया कि महाराज मुझे घरने जकड़ रक्खा है,

बांध रक्खा है, कोई उपाय तो बतावो कि बन्धनसे छूटें। तो जनकने उत्तर कुछ न दिया। सामने नीमका पेड़ था सो उस पेड़को अपनी अंटमें भर लिया और कहा—अरे रे रे मैं मरा, मुझे नीमने जकड़ लिया है, मैं छूट ही नहीं सकता। यह पेड़ मुझे छोड़े तो मैं तुम्हें उत्तर दूं। तो गृहस्थ बोलता है कि मैं तो आपको बुद्धिमान् जानकर पूछनेको आया था, किन्तु तुम तो बेवकूफ मालूम पड़ते हो। अरे पेड़ने तुम्हें जकड़ रक्खा है कि तुमने पेड़को जकड़ रक्खा है? जनक बोले कि यही तो तेरा उत्तर है। अरे घरने तुझे जकड़ रक्खा कि तू ने घरको जकड़ लिया है।

परिग्रहके जकड़ा से छुटकारा पानेका उपाय सम्यक् अवबोध— भीतरमें जो जीवके प्रदेशोंमें विकारपरिणमन चल रहा है, उस विकारपरिणमनका जकड़ाव इतना कठिन है कि इसके दूर करनेका उपाय सिवाय ज्ञानके और कुछ नहीं है। आनन्द पाने के लिए सैकड़ों उपाय कर डालो। यह रोजगार करो। वह रोजिगार करो, अमुक है, स्त्री है, पुत्र है, अनेक काम कर डालो, पर शांति न मिलेगी। जो आज बड़े नेता हैं, मिनिस्टर हैं अधिकारी हैं, धनी हैं—शांति किसे कहते हैं—क्या यह शांति उनके पास है? शांति तो अपने आपके ज्ञानमें ही है। शांति अन्य उपायोंसे त्रिकाल नहीं मिल सकती। इस उपायको बनानेके लिए चाहे कितनी ही देर लगा लो, किन्तु जब भी शांति मिलेगी तो आत्मज्ञानके उपायसे ही मिलेगी।

किसी भी पदार्थका परसे असम्बन्ध— भैया! अपने आपको अनुभव करो कि मैं देह तकसे भी न्यारा शुद्ध ज्ञानमात्र अमूर्त भावात्मक सत् पदार्थ हूं। मेरा किसी अन्य पदार्थसे सम्बन्ध ही नहीं है। किसी पदार्थके साथ सम्बन्ध मानना यह दोष है और परके साथ सम्बन्ध मानने वाले दूसरे मोही अनुदार पुरुषोंको निरखकर खेद करे यह भी दोष है। क्यों खेद करते हो? करुणा करना तक भी एक मधुर दोष है। आखिर वहां भी तो राग परिणाम है, परिग्रहका अंश है। बाह्यपदार्थोंके परिग्रहकी चर्चा तो दूर रहो—अंतरङ्गमें किसी मनुष्यके भला करनेका अनुराग उठना यह भी रागका सूक्ष्मदृष्टिसे परिग्रह है। जो तुम्हें जकड़े वही है परिग्रह। द्वेषने तुम्हें जकड़ा ना? हां। परिग्रह हो गया। मोहने जकड़ा ना? तो मोह तो परिग्रह हो गया। रागने जकड़ा परिग्रह हो गया। और दयाभावने जकड़ा, परिग्रह हो गया।

साधुकी परम करुणा— परिग्रहरहित दशामें, आकिञ्चन्य अवस्था में, निर्विकल्प समतापरिणामका उदय होता है, वह है निष्परिग्रहता। साधु पुरुषोंका उपदेश है कि साधुवोंके इस तरहका रागभाव तो जग सकेगा

कि ये संसारके प्राणी अज्ञान विपदासे दुःखी हैं इनकी यह विपदा दूर हो, किन्तु ऐसा राग न जगेगा कि यह भूखा है, इसे रोटी बनाकर खिला दें। जैसा जो पद है उस पदके अनुसार करुणाका भाव होता है। लेकिन अन्दर में तो शुद्धता हो नहीं और साधु भेष रखकर चूँकि मैं साधु हूं, तो साधु को अधिकार नहीं है कि किसीको खिलाये पिलाए। पानी पिलाने तकका भी आरम्भका परिणाम साधुके नहीं होता। सुननेमें जरा कठिन लग रहा होगा, किन्तु उसके ज्ञान और वैराग्यकी उत्कृष्ट अवस्थापर दृष्टि दें तो ध्यानमें आयेगा कि उसका परिणाम कितना निर्मल है कि जिसमें यह राग भी नहीं आता। लेकिन भीतरसे तो साधुताका परिणाम नहीं है और कोई सोचे कि साधुको तो आरम्भका निषेध है तो प्यासा मरता है तो मरने दो तो ऐसा पुरुष, मैं तो जानता हूं कि अन्तरङ्गमें पापभाव ही कर रहा है।

ज्ञानियोंकी होड़ अज्ञानियों द्वारा अशक्य— ज्ञानियोंके परिणामकी होड़, प्रवृत्तिकी होड़ अज्ञानी करे तो कैसे निभ सकती है? जिसकी जैसी वृत्ति अंतरङ्गमें है उसके अनुसार वृत्ति होगी। एक किताब है गधेकी कहानी बहुत पहिले उपन्यासोंमें चलती थी। उसमें एक जगह घटना आयी है कि एक धोबीके गधा भी था और एक कुतिया भी थी। कुतियाके तीन चार बच्चे हुए। सो वह धोबी उन पिल्लोंको खिला रहा था। कुछ उचकाये और कुछ मुखमें लगाकर चूमें। वे पिल्ले कभी मालिकके पंजे मारें कभी सिर पर चढ़ें। वह धोबी खुश होकर उन पिल्लोंसे बड़ा प्यार करे। तो वह गधा सोचता है कि मैं मालिकका इतना तो बोझा ढोता हूं और मैं ही घरका खर्च चलाता हूं, पर मेरा मालिक मुझसे प्यार नहीं करता और ये पिल्ले जो कुछ नहीं करते, उनसे बड़ा प्यार करता। कुछ गधेके दिमागमें आया कि ये पिल्ले मालिकको पैरोंसे मार रहे हैं इसलिए मालिक उनसे बड़ा प्यार करता है। सो वह भी धीरेसे मालिकके पास गया और अपने पैरोंसे दोलत्ती मारने लगा। मालिकने क्या किया कि ५, ७ डंडे गधेके जमाये। अरे क्यों गधे! गधेका गध ही जैसा काम है और उन पिल्लोंका उनका जैसा काम है, तू उनकी होड़ कर रहा है। अज्ञानीजन ज्ञानियोंकी प्रवृत्तिको देखकर होड़ करें और अपने आपकी दुनियामें पूज्यता जनावें और अन्तरङ्गमें पूज्यताकी कल्पना करें तो उनका कैसे मेल हो सकता है? कुछ वहां अज्ञानी मिथ्यादृष्टिके अन्तरङ्गमें अन्तर नहीं आ सकता।

ज्ञानीका सद्भाव— ज्ञानीकी भावना होती है कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं, देह तक भी मेरा नहीं है, यह बिछुड़ेगा, और जो रागद्वेषके परिणाम

होते हैं वह मैं नहीं हूं मैं तो विशुद्ध ज्ञानानन्दभाव मात्र हूं। ये बाह्यपदार्थ मेरे नहीं हैं। जो जिसका होता है वह उसमें तन्मय होता है। मेरा यह ज्ञान तो ज्ञानमें ही तन्मय है। यदि ये बाह्य अजीव परिग्रह मेरे हो जायें तो मैं उन अजीवोंमें तन्मय हो जाऊंगा, तो अजीव बन जाऊंगा। लेकिन मैं तो ज्ञाता ही हूं, अजीव नहीं हूं। इस कारण कोई भी परपदार्थ मेरा परिग्रह नहीं है। ये बाह्यपदार्थ छिद जावो, भिद जावो, अथवा कहीं भी प्रलयको प्राप्त हो जावो, जहां चाहें वहां जावो तो भी वे मेरे परिग्रह नहीं हैं। कोई १०-५ हजारकी चोरी हो जाय या कोई धोखा देकर छीन ले जाय तो यह जीव खेद करता है और क्यों जी १०-५ हजारकी बात जाने दो, यदि यह हजारों लाखोंका वैभव तुम्हारे पास पहिले से ही न होता, आप एक गरीव परिस्थितिके पहिले से ही होते तो क्या ऐसा हो नहीं सकता था। अरे मुफ्तमें ही आया और मुफ्त ही चला गया। उदयवश आया और उदयवश चला चला गया। इसका क्या खेद करना ज्ञानी जीव के अंतरङ्गमें बड़ा साहस होता है। ये बाह्य परिग्रह किसी भी अवस्था को प्राप्त हों, फिर भी ये मेरे कुछ नहीं हैं।

संबोधन— हे मुमुक्षु पुरुषों ! इस समस्त संसारभ्रमणका स्वरूप देखलो, कहीं यदि सार नजर आता हो तो रम जावो। कहीं भी तो यहां सार नहीं दिखता, फिर क्यों इतनी चिंताएं करके इस परिग्रहका विस्तार कर रहे हो ? देखो सहज साधारण श्रमसे जितना आता हो आने दो, पर चिंता करके आकुलता करके और इतना ही धन होना चाहिए, ऐसा संकल्प बनाकर उद्यम करना यह केवल क्लेशका ही कारण है। खूब देख लो, सोच लो, इस दुनियाको यदि अपना बड़प्पन बतानेके लिए धन संचय किया जा रहा है तो यह सारी दुनिया मायास्वरूप है, नष्ट होने वाली है, अपरिचित है, इसमें लाभ क्या पावोगे और मानलो दो चार सौ मीलके एरिया में रहने वाले पुरुष भला भी कह दें तो यह सारा लोक तो ३४३ घनराजूके प्रमाण विस्तार वाला है, इसके आगे यह परिचित क्षेत्र समुद्रमें बूंद बराबर भी हिस्सा भी नहीं पाता है। सो थोड़े से क्षेत्रके लोगोंने यदि आपका यश गा लिया तो उससे क्या लाभ होगा ? और मरकर किसी ऐसे क्षेत्रमें पैदा हो गए जहां कोई पूछ नहीं है तो फिर उस यशसे क्या लाभ है ?

अपने स्वार्थकी चेष्टा— भैया ! अनेक लोग पिताके मरने पर श्राद्ध किया करते हैं। किसीको भोजन करा दिया तो सोचते हैं कि वह भोजन बापके पास पहुंच जायेगा। पंडोंको पलंग, अनाज, वस्त्र आदि दान देते हैं, सोचते हैं कि ये सब पिताके पास पहुंच जायेंगे। हृदयकी बात

पूछो तो यह है कि श्राद्ध करने वाला अपने यशके लोभसे या कल्पित पुण्यकी चाह से श्राद्ध करता है। देखो प्रायः जो जिन्दामें नहीं सुहाया वह मरने पर क्या सुहा गया? कवि कोई यहां अलंकारमें कहता है कि वह मर चुका हुआ बाप मानो यह प्रार्थना कर रहा है कि हे प्रभु! ये मेरे लड़के अब इतना खर्च कर रहे हैं, यदि ये जिन्दा अवस्थामें प्रेमपूर्वक वचन बोल कर पानी भी देते रहते तो यह भला था। तो जगतकी ऐसी ही रीति है। संसारमें देखो सर्वत्र दुःख छाये हैं।

निजगुप्तगृहमें निजकी गुप्ति— इस परिग्रहका विस्तार छोड़ो और आत्मीय आनन्दकी प्राप्तिके हेतु अपने आपके इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें ज्ञान-द्वारा प्रवेश करो। यहां पर किसी भी परिग्रहकी यादमें मन दौड़ो। अपने आत्मस्वरूपको ग्रहण करो। जो आत्मामें है वह त्रिकाल छूट नहीं सकता और जो आत्मामें नहीं है वह त्रिकाल आत्मामें आ नहीं सकता। यह मैं आत्मा स्वरसतः सुरक्षित हूं। सुरक्षित होता हुआ भी कल्पनाएं करके दुःखी हो रहा हूं। कोई खरगोश शिकारी कुत्तोंके आक्रमणके भयसे डरकर भाग जाता है, और किसी झाड़ीमें छुप जाता है, जहां किसीकी दृष्टि ही न जा सके। उस झाड़ीके आसपास देखकर वे कुत्ते लौट जाते हैं। वह खरगोश अपने कानोंसे नेत्र बंद करके छिपा हुआ बैठा रहता है। थोड़ी देरमें वह खरगोश निकलकर देखता है कि वे कुत्ते गये या नहीं। कुत्ते पुनः उसको देखकर पीछा करते हैं। यों ही यह हित पंथका अभ्यासी पुरुष परिग्रहकी आपदावोंसे परेशान होकर अपने आपके सुगम सुन्दर गुणोंकी झाड़ियोंमें गुप्त होकर बैठ गया और इन्द्रियोंको संयत कर चुका, बड़े आनन्दका स्थान पा गया, लेकिन थोड़ी ही देर बाद फिर इन इन्द्रियोंको उघाड़कर फिर इन परिग्रहोंको देखता है, राग और द्वेषवश इनमें दृष्टि जमाता है। लो अब फिर दुःख हो गए।

आकिञ्चन्यकी अभ्यर्थना और समर्थना— भैया! अरे एक अन्तर्मुहूर्त तो, कुछ भी तो अविचल होकर इस आत्मस्वरूपमें स्थित होओ और देखो कि यह आत्मा स्वयं आनन्दका भण्डार है। अपने आत्मामें अविचल स्थिर होनेका जो एक महान् कार्य है यह ज्ञानी संत पुरुष करता ही है। ज्ञानियोंको इस पर आश्चर्य नहीं। जैसे कृपण को दूसरोंको दान देते हुए आश्चर्य होता है और ऐसा भी सोचने लगता होगा कि इनका दिमाग ठीक है या नहीं। कुछ दिमाग क्रेक तो नहीं है जो ऐसा धन लुटाये जा रहे हैं। ऐसे ही अज्ञानी पुरुषोंको ज्ञानी पुरुषोंकी चेष्टा पर आश्चर्य होता है, ओह कैसे छोड़ दिया उस सुकौशलने घर, कैसे त्याग दिया उस

सुकुमालने अपना सारा वैभव ? कहीं दिमाग क्रैक तो नहीं हो गया था ? और दया भी आ जाती है हाय क्यों ऐसा परिणाम हुआ ? ये खेद व आश्चर्यके भाव अज्ञानियोंकी चेष्टाएं हैं, पर ज्ञानी संत जानते हैं कि सर्वस्व आनन्द त्यागमें ही है, निष्परिग्रहतामें है, आकिञ्चन्यकी उपासनामें है। सबसे विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वमें उपयोग रमें उससे बढ़कर जगत्‌में कुछ और है ही नहीं।

संसारकी वोटसे हितका अनिर्णय-- यह संसारका राज्य सब मोही प्रजासे भरा हुआ है। यहां लोगोंकी वोट पर सचाईका निर्णय नहीं हो सकता कि देखो अधिकसे अधिक मनुष्य जो काम करते हों वही हितका मार्ग है। कोई देश बेवकूफोंसे ही भरा हुआ हो तो वहां जैसे वोटों पर राज्य नहीं चल सकता, ऐसे ही मोहियोंसे भरे हुए संसारमें संसारी जीवों को निरखकर अपना निर्णय मत बनावो कि ये धनसंग्रहमें इतना बढ़ रहे हैं तो यह मुझे भी करना चाहिए, ये परिवारके मोहमें सने जा रहे हैं तो यह मेरा भी कर्तव्य होगा, ऐसा ध्यान मत करो। इस परिग्रह पिशाचसे हटकर अपने आपके स्वरूपमें अविचल स्थिर होनेका प्रयत्न करो।

निष्परिग्रह आत्मस्वभावमें रमण-- इस परिग्रह त्यागमहाव्रतके प्रकरणमें यह बताया गया है कि निष्परिग्रह ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वमें रुचिपूर्वक रमण करनेका यत्न करना, बाह्य आभ्यंतर २४ प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना सो परिग्रहत्याग महाव्रत है। यहां तक व्यवहारचारित्र के प्रकरणमें पंचमहाव्रतोंका स्वरूप दिखाया गया है और व्यवहारमें पालनेके लिए ये पंचमहाव्रत मुख्य बताये गये हैं। अब इसके बाद पंचसमितियोंका वर्णन चलेगा।

पासुगमग्गेण दिवा अवलोकंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥६१॥

ईर्यासमितिमें चार सावधानियां— प्रासुप मार्गसे दिनमें चार हाथ प्रमाण आगे देखते हुए गमन करनेको ईर्यासमिति कहते हैं। ईर्याका अर्थ है चलना और देख भालकर चलनेका नाम है ईर्यासमिति। ईर्यासमितिमें चार बातें हुआ करती हैं, एक तो अच्छे कामके लिए चलना, दूसरा अच्छा भाव रखते हुए चलना, तीसरा दिनके प्रकाशमें चलना और चौथा चार हाथ जमीन देखकर चलना। यद्यपि प्रसिद्धि इतने भरकी है कि चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना सो ईर्यासमिति है, किन्तु ईर्यासमितिमें चारों ही बातें हुआ करती हैं। यदि इन चारोंमें से एक भी कम हो तो वह ईर्यासमितिका रूप नहीं है।

चारमें से किसीकी असावधानीसे ईर्यासमितिका अभाव— मानो कोई बुरे कामके लिए जा रहा हो और बड़ा देखभाल कर जा रहा हो— कोई जीव न मर जाय तो ईर्यासमिति उसे कहेंगे क्या ? नहीं कहेंगे, क्योंकि वहां तो धर्मका पंथ ही नहीं है तो ईर्यासमिति कहांसे हो ? कोई अच्छे उद्देश्यसे जा रहा हो, मगर गुस्सा करता हुआ, गाली देता हुआ जा रहा हो तो क्या उसे ईर्यासमिति कहेंगे ? नहीं कहेंगे, क्योंकि वह तो बुरे भाव करके जा रहा है। कोई अच्छे उद्देश्यसे जाय, अच्छे परिणाम रखता हुआ जाय और रात्रिमें जाय तो भी ईर्यासमिति नहीं है। कोई दिनमें भी जाय, अच्छे उद्देश्यसे भी जाय, अच्छे भावोंसे भी जाय, पर ऊंचा मुँह उठाकर जाय तो वह भी ईर्यासमिति नहीं है।

व्यवहारसमिति व निश्चयसमितिका एकाधिकरण— जो परम संयमी गुरुयात्रा, देवयात्रा आदिके शुभ प्रयोजनका उद्देश्य रखकर चार हाथ आगे मार्गको शोधता हुआ, देखता हुआ स्थावर और त्रस जीवोंकी रक्षाके लिए दिनमें ही जाता है उस परमसंयमी पुरुषके ईर्यासमिति कही जाती है, यह है व्यवहारसमितिका स्वरूप। निश्चयसमितिका स्वरूप यह है कि अभेद अनुपचरित रत्नत्रयके पथसे परमधर्मस्वरूप निज आत्माका परिणाम करना सो निश्चयसमिति है। समिति शब्दमें २ शब्द हैं—सम् और इति। सम्का अर्थ है भली प्रकार, इतिका अर्थ है प्राप्त करना। अपने आपके शाश्वत शुद्ध चित्स्वभावको प्राप्त करना इसका नाम है समिति। इस निज स्वभावकी प्राप्ति निज आत्मतत्त्वके श्रद्धान् ज्ञान और आचरण के मार्गसे होती है। भैया ! बाहरी पदार्थोंको हम जानना चाहें तो इन इन्द्रियोंसे जान सकते हैं। यह स्निग्ध है, इसका अमुक रस है, इसके लिए बहिर्मुख होकर भी काम चल सकता है, चलता ही है, किन्तु अपने आप के स्वरूपका परिचय इन्द्रियोंको संयत करके केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। इसके परिचयका उपाय कोई दूसरा नहीं है।

वस्तुका स्वरूप— प्रत्येक पदार्थ एक है। दो मिलकर एक कोई नहीं होता। यह विज्ञानसिद्ध भी बात है। एक वही होगा जो अखण्ड होगा, अथवा जिसका परिणमन जितने पूरेमें हो और उससे बाहर कहीं न हो उसको एक कहा करते हैं। जैसे यह चौकी है, यह एक पदार्थ नहीं है। इसके एक खूंटमें यदि आग लग जाय तो वह परिणमन सारी चौकीमें कहां हो रहा है ? एक परिणमन जितनेमें हो व उसही एक समयमें होना पड़े उतने को एक चीज कहते हैं। एक परमाणु है वह पूरी एक वस्तु है। रूप रस आदिक जो भी परिणमन होगा वह पूरे परमाणुमें होगा, हम आप

सब एक-एक आत्मा पूर्ण अखण्ड एक-एक हैं। इन आत्मावोंमें प्रत्येक आत्मामें जो भी परिणमन होता है—सुख हो, दुःख हो, विचार हो, ज्ञान हो वह इस समूचे आत्मामें होता है। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाश एक है, काल असंख्यात एक-एक है। हो, वह इस समूचे आत्मामें होता है।

पदार्थका पूर्ण स्वयंमें ही स्वयंका परिणमन— हाथमें फोड़ा हो गया तो उस फोड़ेकी वेदना यद्यपि ऐसी लगती है कि हाथमें बड़ी वेदना है, किन्तु वह वेदना पूरे आत्मामें है, हाथमें नहीं, या हाथमें जितने आत्म प्रदेश हैं उतनेमें ही हो, ऐसा नहीं है फिर ख्याल इस फोड़ेकी ओर क्यों हो जाता है? इस फोड़ेके निमित्तसे वेदना उत्पन्न हुई है। इस कारण उस वेदनाके समयमें निमित्तभूत पदार्थ पर दृष्टि जाती है। वस्तुतः वह सारा दुःख पूरे आत्मामें होता है, हाथके प्रदेशमें ही दुःख होता है ऐसा नहीं है।

प्रत्येक द्रव्यकी पूर्णता व अभेदरूपता— इस तरह एक-एक जीव एक-एक पदार्थ हुआ, एक-एक परमाणु एक-एक पदार्थ हुआ। धर्मद्रव्य एक स्वतंत्र पदार्थ है जो सारे लोकमें व्यापक है। जीव पुद्गलका गमन हो तो उसके गमनमें सहकारी कारण है। यद्यपि धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्यके सम्बन्धमें कोई कुछ विशेष कहा नहीं जा सकता क्योंकि बहुत सूक्ष्म तत्त्व है यह। लेकिन कुछ युक्ति ऐसी आती भी है—मछली जलमें चलती है तो मछली के चलनेमें जल सहकारी कारण है। जल न हो तो मछली नहीं चल सकती तो वह जल स्थूलदृष्टिसे सहकारी कारण है, किन्तु साथ ही कोई सूक्ष्म भी ऐसा कारण है जिसकी वजहसे जीव और पुद्गल गमन कर सकते हैं। वह है एक धर्मद्रव्य। अधर्मद्रव्य वह है जो जीव पुद्गलके चलते हुएके बाद ठहरनेमें सहायक हो। आकाश है एक और काल है असंख्यात। ये सभी द्रव्य एक-एक पूर्ण अपने में अभेद रूपसे हैं।

निश्चयसमितिका उद्गमन— आत्माके सम्बन्धमें वर्णन करते हुए आचार्य महाराज इसमें अनन्तगुण बताते हैं, कुछके नाम भी ले दिए हैं। इसमें ज्ञान है, दर्शन है, श्रद्धा है, चारित्र है, लेकिन इस आत्मामें ऐसे पृथक्-पृथक् कोई गुण नहीं हैं। वह तो एकस्वभावी है। मैं एकस्वभावी हूं। हम किस तरह बता सकें, उसके बतानेका उपाय भेदव्यवहार है। तो आत्मा एक है और वह अभेदस्वभावी है, जिसको चित्स्वभाव शब्दसे कह सकते हैं। ऐसे अभेदस्वभावी आत्माके श्रद्धानसे ज्ञानसे और आचरणसे इसको प्राप्त हो जाय, इस ही का नाम निश्चयसमिति है। जब संकल्प-विकल्प इस जीवमें नहीं हैं तो बाह्यपदार्थोंका यह आदर न करे, इष्ट

अनिष्ट बुद्धि तक न रहे ऐसी स्थितिमें आत्माका जो सहजविश्राम होता है उस परिस्थितिमें स्वतः ही यह उपयोग आत्मतत्त्वको प्राप्त होता है—यह है वास्तविक समिति। यह समितियोंका लक्षण पांचों समितियोंमें घटेगा।

निश्चय ईर्यासमिति— ईर्यासमितिमें यह बात लेना कि बाहर भटका हुआ यह उपयोग बाहरसे हटकर अपने आपके स्वरूपमें चले, इसे ईर्यासमिति कहते हैं। चलने और जानने दोनोंका एक अर्थ होता है, एक मर्म होता है। जाननेमें भी ज्ञान चला। मैंने ज्ञान किया, मेरे ज्ञान आया, उसमें भी गमनागमनका प्रयोग होता है। संस्कृतमें जाना और जानना दोनोंकी प्रायः एक धातु होती है याने एक ही वर्ब जानेका अर्थ भी बताता है और जाननका अर्थ भी बताता है। संस्कृतमें प्रायः ऐसी अनेक धातुवें हैं और उन धातुवोंके संज्ञाभूत भेदसे भी जानें कि जैसे कहते हैं अवगम। उसने अब अवगम किया, उस अवगमका अर्थ है जानना, और अवगममें धातु है गम, उसका अर्थ है गमन करना। गमन करना और अवगम करना दोनोंमें एक धातु है, उसका जाना भी अर्थ है और जानना भी अर्थ है। तो यह उपयोग अपने आपके स्वरूपमें जाय, इसका नाम है ईर्यासमिति।

निश्चयईर्यासमितिपूर्वक व्यवहारईर्यासमितिका लाभ— साधुजनोंके निश्चयईर्यासमिति भी है और व्यवहारईर्यासमिति भी है। निश्चयईर्यासमितिका भाव हुए बिना व्यवहारईर्यासमिति वास्तवमें साधुका चारित्र नहीं है। है भी चारित्र, ठीक है, पुण्यबंध कराने वाला है पर संवर और निर्जराका कारण नहीं है। कोईसी भी क्रिया हो, कोईसा भी परिणमन हो, उस परिणमनमें निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारकी पद्धति हुआ करती है।

परिणतिसूचक निश्चय व व्यवहारपद्धति— जैसे हम जानते हैं कि हमने चौकी जानी, तो मेरा ज्ञान मेरे आत्मप्रदेशको छोड़कर क्या चौकी में चला जाता है? ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता। ज्ञान एक गुण है और वह ज्ञानशक्ति आत्माके प्रदेशमें है। जहां तक आत्मतेजपुंज है वहां तक हो ज्ञानशक्ति है और सभी शक्तियां हैं। तो जहां यह ज्ञानशक्ति है इस ज्ञानशक्तिका परिणमन उस ही स्थानमें होगा। उसको छोड़कर बाहर ज्ञानशक्ति परिणमेगी नहीं? तो चौकीका ज्ञान करनेमें भी हमने क्या किया? जो कुछ किया अपने आपके आत्मामें रहते हुए अपने आपके आत्मामें ही परिणमन किया। ज्ञेयाकार परिणमन हुआ, हुआ भी वह अपने आपमें ही, लेकिन उस वास्तविक कामको, निश्चय परिणमनको

हम किन शब्दोंमें कहें कि मैंने यहां क्या किया ? इस निश्चय परिणमन को बतानेका उपाय यह ही है कि मेरे परिणमनमें जो विषयभूत बाह्य पदार्थ है उसका नाम लेकर कहा जाय कि मैंने चौकी को जाना। निश्चय से हमने चौकीको नहीं जाना, किन्तु अपने आपमें अपने आपकी ज्ञानशक्तिकी परिणति हो गई।

परिणतिका अन्यत्र अगमन— जैसे हम दर्पण लिए बैठे हैं, हम दर्पणको ही देख रहे हैं पर दर्पणको देखकर ही अपने पीछेके सारे मनुष्योंकी क्रियावोंका वर्णन कर सकते हैं। इसने अब पैर उठाया, इसने हाथ उठाया, इसने जीभ चलायी, सब हम वर्णन कर सकते हैं—देख रहे हैं केवल दर्पणको ही, पर वर्णन कर रहे हैं हम उन सभी पुरुषोंके सम्बन्ध में। इसी प्रकार जो बाह्यपदार्थ हैं उन । ज्ञेयाकार परिणमन यहां हो जाता है तब हम जान तो रहे हैं अपने आपमें उठने वाले ज्ञेयाकार परिणमनको ही, किन्तु उस ज्ञेयाकार परिणमनको जानते हुए हम बाह्यपदार्थोंके बारेमें वर्णन किया करते हैं।

ईर्याका निश्चय व्यवहार परिणमन— उस अभेदस्वभावी और अभेदपरिणामी अपने आपको मैं निरख सकूँ—ऐसा जो यत्न है उस यत्न का नाम है ईर्यासमिति। निश्चयतः तो जैसे हमारे सब कुछ जाननमें निश्चयजानन और व्यवहारजानन लगा हुआ है, इसी प्रकार प्रत्येक क्रिया में निश्चयवृत्ति और व्यवहारवृत्ति चला करती है। निश्चयतः यह साधु पुरुष अपने आपके उपयोगमें जा रहा है और व्यवहारतः यह साधु पुरुष बाह्यमें इस जीवरक्षाका यत्न कर रहा है।

यथार्थ लक्ष्य बिना धर्मके वेशमें विडम्बना— कोई अज्ञानी पुरुष अपने आपके आत्मतत्त्वसे बिल्कुल अपरिचित हो और साधुधर्मके नाम पर बाह्यवृत्तियोंका खूब पालन करे, तो अपने ज्ञानस्वभावका स्पर्श न होने के कारण वे सबके सब श्रम बहिर्मुखी हैं। वहां बाह्यपदार्थोंकी ओर दृष्टि है। मैं साधु हूं, ये श्रावक हैं, मुझे ऐसा करना चाहिए, ये सब बहिर्मुखी दृष्टियां हैं। कोई एक प्रश्न करे कि यह क्या कारण है कि आजकल प्रायः यह दिखता है कि जितना धैर्य जितनी शांति गृहस्थोंको है उतना धैर्य, उतनी शांति प्रायः साधुजनोंको नहीं है। और करीब-करीब उनके गुस्सा ही दिखा करता है। जरासी बात पर गुस्सा आ जाता है और असद्व्यवहार करते हैं, तो उसका कारण है क्या ? क्यों इतने जल्दी क्रोध आ जाता है और इतनी जल्दी असद्व्यवहार होने लगता है ? उसका कारण केवल एक यह ही है कि अपने आपके शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी खबर नहीं है।

इन्हें जो कुछ दिखता है उसे ही अपना सर्वस्व मानने लगते हैं। यह वृत्ति तब बनती है जब अपने स्वरूपको खबर नहीं है। जब अपने स्वरूपकी खबर नहीं है और बाहरकी सुध बनाए हुए है तो यही तो सोचेंगे अपने शरीरको देखकर कि यह मैं हूं, और यह मैं निर्ग्रन्थ हूं। घर बार त्याग दिया, निष्परिग्रह हूं, साधु हूं, मुझे ऐसा करना चाहिए, मुझे ऐसा पुजना चाहिए।

अज्ञानदशामें लोकलिहाजकी भी होली—अहो अज्ञानदशामें कहीं कहीं तो लोक लिहाज भी खत्म हो जाती है। अपनी पूजा दूसरोंसे बनवा लिया और सुबह पूजनका टाइम होने पर कहा कि यह अष्टद्रव्य लो, हमारी यह पुस्तक है, इससे यह पूजा करो। इस तरह अपनी पूजा भी करवाते, इतना तक भी लोक लाज नहीं रहती, इसका क्या कारण है? इसका कारण है मूढ़ता, पूरा अज्ञान। जहां अज्ञानभाव है और जहां यह बात चित्तमें आयी है कि मैं साधु हूं, पुजता हूं, पुजने वाला हूं, ये लोग पूजने वाले हैं तो जितना स्टेण्डर बना रक्खा है उतनी प्रतिष्ठा तो मिल नहीं सकती है तब उसे दुःख होता है। कल ही सुनाया था प्रेमचन्द्र जी ने कि विनोवा जी का एक पत्र आया है, जिसमें लिखा है कि तुम्हारा दुर्भाग्यका दिन शुरू होगा उस दिन जिस दिन तुम जितने हो उतने से बड़े दुनियामें जाहिर हो जावोगे। शिक्षाप्रद बात लिखी थी।

योग्यतासे अधिक प्रसिद्धिमें खतरा—भैया! हैं तो हम थोड़े ज्ञान वाले और अपने को पहिलेसे बड़ा ज्ञानी महाविद्वान जाहिर करा दें, अथवा लोग जान जायें कि यह तो बड़े ऊंचे विद्वान् हैं, और है साधारण जानकार तो समझो कि उसका दुर्भाग्य शुरू हो गया। कोई हो साधारण पोजीशनका और उसके बारेमें दुनिया बहुत बड़ा पोजीशन माने तो समझो कि उसको विपत्ति आ गयी। कोई है तो छोटे ज्ञानका और अपने को बहुत बड़ा विद्वान् जाहिर कर दे कि हम बहुत बड़े विद्वान् हैं अथवा लोगोंने समझ लिया कि यह बहुत विद्वान् है, तो उसमें कितनी ही विपत्तियां आती हैं। पहिली विपत्ति तो घमण्डकी है। घमंड आ जाय तो वह दुःखी ही रहेगा क्योंकि मान पोषण कौन करेगा? कोई किसीका नौकर है क्या? सो यों दुःखी रहेगा। उसने जितना बड़ा ज्ञानी माना है उतने ही लोग ज्ञानप्रकाश करानेके प्रसंगमें आयेंगे और प्रश्न पूछेंगे। बड़े पुरुष आयेंगे। उस समय उसके पास यदि ज्ञान है थोड़ा और कुछ न बन सका, न कुछ बता सका तो क्या है, मिट्टी पलीत हो गयी।

आत्मबोध विना लोकविद्यासे तृष्णाकी उद्भूति—बनारसमें एक

बहुत बड़ा विद्वान् था, बूढ़ा हो गया लेकिन बुढ़ापेमें भी रात दिन पुस्तकें देखा करे। तो लोगोंने कहा कि महाराज ! आप सैकड़ों विद्वानोंके गुरु हैं और सबसे ऊंचे विद्वान् हैं, फिर भी आप रात दिन याद करते रहते हैं, इतना श्रम आप क्यों करते हैं ? तो वह वृद्ध विद्वान बोलता है कि हम इतना श्रम न करें और कदाचित् कोई हमसे शास्त्रार्थ करे, शास्त्रार्थ में हम हार गये तो कुवेंमें गिरनेके सिवाय और कोई चारा नहीं है। अंत में हुआ भी ऐसा ही हाल। किसी नये विद्वानने उनसे शास्त्रार्थकी घोषणा कर दी। उस शास्त्रार्थमें वह वृद्धविद्वान् हार गया और अंतमें कुएमें गिर कर अपनी जान दे दी।

अज्ञानान्धकार— सो भैया ! हो तो छोटी पोजीशन और बड़े पोजीशनकी प्रसिद्धि करे या हो जाय तो उसकी बड़ी विडम्बना है। तो जिसको यह दिखनी हुई दुनिया सब कुछ मालूम होती है—यह शरीर है सो मैं हूं और मैं साधु हूं, ये सब श्रावक हैं, इनका कर्तव्य पूजना है, मेरा कर्तव्य पुजना है—ऐसा अज्ञानका अंधेरा जब इस जीव पर छा जाता है तब इसका शुद्ध आशय नहीं रह सकता और ऐसा पुरुष धर्मके नाम पर बड़ी-बड़ी तपस्याएं करे, बड़ी-बड़ी समितियोंका, व्रतोंका पालन करे, फिर भी वहां संवर और निर्जरा लेशमात्र भी नहीं हैं। इस कारण निश्चय-समितिके उद्यमी साधु पुरुषोंके ही यथार्थ व्यवहार ईर्यासमिति होती है।

ईर्यासमितिमें धार्मिक उद्देश्य— ईर्या मायने चलना। अपने आप की ओर चलना सो वास्तवमें ईर्यासमिति है। निश्चयईर्यासमितिके पालक आत्मदर्शीको किसी कार्यके लिए चलना पड़े तो वह त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षा करता हुआ चलता है, यही उसकी व्यवहारईर्यासमिति है। ईर्या-समितिमें भले कामके लिए चलना चाहिए। वे भले काम क्या क्या हो सकते हैं, उदाहरणके लिए देखिये--तीर्थयात्रा करना, देववंदना करना गुरु के समीप जाना। ये सब उसके धार्मिक उद्देश्य हैं और आहारके लिए जाना यह भी साधुसंतोंका धार्मिक उद्देश्य है। साधु संतजन आत्मतत्त्व के विशेष रुचिया होते हैं। उनको भोजन न मिलना मिलनेकी अपेक्षा अधिक रुचिकर है। आहार करनेको वे आपदा और विडम्बना समझते हैं। क्यों समझते हैं ? अहो अब मैं आत्मस्वरूपकी दृष्टि छोड़कर भिन्न असार जिसका परिपाक मलमूत्र बनेगा ऐसे पदार्थोंमें दृष्टि देकर मैं अपने आपको भूल जाऊंगा। ऐसे बेकार कामको मैं जा रहा हूं। उन्हें इस बात का अन्तरमें शोक रहता है, ऐसे संत धार्मिक लक्ष्य लेकर ही ऐषणा करते हैं।

उत्सर्गप्रिय संतकी प्रवृत्तिमें भी कारण विवेकका आग्रह— जो आत्मानुभवके आनन्दसे सुखी रहा करते हैं वे इस आत्मीय आनन्दको छोड़कर भोजन आदिककी प्रवृत्तिमें चलें तो उनको यहां आपत्ति मालूम होती है। किन्तु क्या करें, विवेक समझाता है कि क्षुधाकी तीव्रता है। देखो शरीरकी स्थिति न रहेगी तो तुम नियमोंका पालन कैसे कर सकोगे, अन्तरमें संक्लेश परिणामका सद्भाव हो जायेगा और शरीरकी शिथिलतासे बाह्यमें कोई भी आवश्यक कार्य सावधानीसे न कर सकोगे—इस लिए चलो क्षुधाको शांत कर आओ, यों विवेक समझाता है तब साधु चर्या के लिए उठता है। चर्या करते हुएमें उनका प्रयोजन धर्मस्वभावी आत्मतत्त्वकी सिद्धिका ही है, खानेका प्रयोजन नहीं है। उत्सर्गप्रिय संतको विवेकका आग्रह ही आहारचर्यामें प्रवृत्त कराता है।

साधुकी आहारमें भी धार्मिक कृति होने पर एक सद्गृहस्थका दृष्टान्त— उत्तम प्रयोजनके अर्थ आहार करनेमें भी वह साधु पुरुष धार्मिक कार्य कर रहा है। जैसेकि किसी गृहस्थका यह नियम हो कि मैं आजीवन शुद्ध भोजन करूंगा, और भोजन करने से पहिले मैं साधु संत पात्रको भोजन कराकर अथवा उनकी प्रतीक्षा करके भोजन किया करूंगा, ऐसा संकल्प करने वाले को सुबह मंदिरसे पहुंचनेके बाद घरमें रसोईका आरम्भ चल रहा है—यद्यपि वह आरम्भ है और पूर्ण निर्दोषताकी बात नहीं है, किन्तु उद्देश्यमें यह पड़ा हुआ है कि मैं साधु पुरुषको आहार कराऊंगा, इस भावनासे जो आहार बना रहा है उसका आहार बनानेका कार्य भी उस गृहस्थके योग्य धर्मकार्यमें शामिल हो गया।

गृहस्थके योग्य सुगम चार पुरुषार्थ— देखो भैया! चार पुरुषार्थ बताये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म मायने पुण्य करना, अर्थ मायने धन कमाना, काम मायने पालन, पोषण, भोग उपभोग करना और मोक्ष मायने मुक्तिका उपाय करना। सो इन चार पुरुषार्थोंमें से मोक्ष पुरुषार्थ तो बड़ा कठिन लग रहा है और आजकल मोक्षपुरुषार्थ साक्षात् है भी नहीं। तब मोक्ष पुरुषार्थके बजाय एक पुरुषार्थ आपको ऐसा बतायें कि आप सुनते ही खुश हो जायें (हां बताओ महाराज) देखो तीन तो हैं—धर्म, अर्थ, काम और चौथा है—नींद लेना, सोना। आपके लिए चार पुरुषार्थ बताये हैं। पुण्य कार्य करना, धन कमाना, भोग उपभोग करना और नींद लेना। और देखो—रात दिनमें २४ घंटे होते हैं—और काम हैं, चार, सो चारो काम बांटने में प्रत्येकमें ६ घंटेका विभाग हुआ। कुछ संशोधनके साथ क्रम भी देखिये—सुबह जगनेके बाद शुरूके ६ घंटे धर्ममें

लगावो, उसके बादके ६ घंटे धन कमानेमें लगावो, उसके बादके ६ घंटे घरके पालन पोषणके, भोग उपभोगके, समाजके, संस्थावोंके कामोंमें अपना समय लगावो और बादके ६ घंटोंमें नींद लेवो।

धर्मके पीरियडमें गृहस्थकी धार्मिक कृतियां— सुबहके ४ बजे से १० बजे तक आपका धर्मका पीरियड है, १० बजे से ४ बजे तक धन कमानेका पीरियड है, ४ बजे से १० बजे रात तक सबकी खबर दबर लेना, पालन पोषण करना, सभा सोसाइटीके कार्य करना, समाज सेवाएं करना और भोग उपभोग करना, ये सब काम हैं और १० बजे रातसे ४ बजे रात तक निद्रा लेना। इनमें १, १॥ घंटेका काम अदल-बदल लो—फिर अपने आपकी चर्या बहुत हो जायेगी। तो उस धर्मके पीरियडमें जो रसोई बनाता होगा वह भी धर्ममें शामिल है। यदि यह परिणाम है कि मैं साधु संतोंको आहार कराके आहार करूँ तो रसोई बनाते हुए भी वह धर्ममें शामिल है और किसी साधुको आहार कराकर फिर स्वयं भोजन करने बैठे तो वह भी धर्ममें शामिल है। साधुको खिलाकर जो संतोषसे उसने अपना चौथाई पेटभर लिया, उस खुशीमें उसकी दृष्टि साधुके गुणस्मरणमें चलती रहेगी और यहां भोजनमें मुख चलता रहेगा। तब बताया है कि खाना भी धर्ममें शामिल है।

निश्चय ईर्यासमितिके पालकके व्यवहारईर्या समितिका सुगम पालन— जहां निश्चयईर्यासमिति होती है वहां व्यवहारईर्यासमिति उसकी सहज क्रियासे चलती है और जिसके निश्चयईर्यासमिति नहीं है वह जान-जानकर हठ करता है कि मैं साधु हूं, मुझे देखकर चलना चाहिए। इस प्रकार अंतरङ्गमें पर्यायबुद्धिका, हठयोगका परिणाम रखकर ईर्यासमितिको पालना संवर और निर्जराका कारण नहीं है। यद्यपि वह भी जीव रक्षा कर रहा है, लेकिन अंतरङ्गमें जिसके निश्चयईर्यासमिति नहीं है अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं है, आत्माके स्वभावका स्पर्श नहीं है वह पुरुष बाह्यमें रक्षाका भी यदि यत्न करेगा तो हठपूर्वक करेगा। सहज न बन सकेगा। इस कारण व्यवहारईर्यासमिति भी वहां मोक्षमार्गकी सहायक है जहां निश्चयईर्यासमिति हो।

मुक्तिसखी निश्चयईर्यासमिति— निश्चयईर्यासमिति कहते हैं आत्मस्वरूपमें अपने उपयोगको भली प्रकार ले जाना, यही है निश्चय-ईर्यासमिति। यह कला जिसके जगी है वह पुरुष सहजभावसे जब प्रवृत्ति करता है तो जीवरक्षासहित प्रवृत्ति करता है। यह ईर्यासमिति मानों मुक्तिकांताकी सखी है। जैसे सखीके माध्यमसे कान्ता तक पहुंच जाता

सरल हुआ करता है, इसी प्रकार ईर्यासमितिके माध्यमसे मुक्तिके निकट पहुंच हो जाती है। मुक्ति क्या है? आत्माके विशुद्ध चैतन्यविकासका नाम मुक्ति है। इस मुक्तिमें गमन उसीका ही होता है जो इस ओर दृष्टि करके इस ओर ही स्थिर रहा करे। यह भाव है निश्चयईर्यासमितिमें।

पिच्छिकाकी आवश्यकता— साधुजनोंका मुख्य कर्तव्य एक ही है, अपने आत्माकी साधना करना, लेकिन जब तक शरीर साथ है तब तक इस शरीरके पोषणका भी एक-एक यत्न करना ही पड़ेगा। क्षुधाशांतिके लिए चर्याको जाना ही पड़ेगा, ऐसी स्थितिमें वे साधुजन ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते हैं। गमन करते हुएमें साधुके पास पिछी अवश्य होना चाहिए साधु कोई ध्यानमें खड़ा है—कोई पिछी ले जाय, ले जावो वह ध्यानमें खड़ा है। साधुको पिछीकी आवश्यकता ही नहीं है, किन्तु साधु गमन करे तो पिछी की आवश्यकता है। कदाचित् पिछी बिना भी वह ७ पग जा सकता है, इतना आचारसंहितामें विधान है, पर इतने से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है। चर्याके समय गृहस्थके चौके में पिछी ले जाना अनुचित है और जो साधु ऐसा ही हठ करते हैं कि चौकेके भीतर ही ले जाएं और वहां ही कही रखदें या किसी खूँटी वगैरहमें टांग दें या नीचे धरें तो वह गृहस्थ पर दया नहीं करते।

पिच्छिका का प्रयोग— पिछी एक संयमका उपकरण है, पिछीके बिना भी ऐसे समय पर दो चार कदम चला जा सकता है, पर विहार करे तो वहां पिछी बिना विहार नहीं हो सकता। विहार कर रहे हैं, धूप कड़ी है, किसी पेड़के नीचे छायामें आना है तो पेड़की छायामें प्रवेश करने से पहिले धूपमें खड़े-खड़े पिछीसे अपने अंगको झाड़ेंगे तब छायामें प्रवेश करेंगे। कारण यह है कि कोई जीव ऐसे हैं जो धूप ही पसंद करते हैं तो उन्हें छायामें पहुंचकर क्लेश होगा। और जब छाया छोड़कर धूपमें आते हैं तो धूपमें प्रवेश करनेसे पहिले अपने शरीरको पिछीसे झाड़ देते हैं। कारण यह है कि जो जीव छाया पसंद करते हैं उन्हें धूपमें जाकर कष्ट होगा। आचारसंहितामें जीवदयाके सम्बन्धमें ये सब पद्धतियां बतायी गयी हैं। एक करवटसे साधु लेटा है, यदि उसे दूसरी करवट बदलनी हुई तो पिछीसे अपने शरीरको व निकटस्थानको साफ करता है ताकि करवट बदलनेमें किन्हीं जीवोंका घात न हो जाय।

साधुकी अत्यल्प निद्रा और सावधानी— साधुजनोंके सोनेमें उतनी बेहोशी नहीं होती जितना कि गृहस्थ बेखबर सोते हैं। साधुजन सोते हुए भी जगते रहते हैं क्योंकि छठे गुणस्थानमें नींद है। ७ वें गुणस्थानमें नींद

नहीं है। छठे गुणस्थानका नाम प्रमत्तविरत है। उसमें प्रमाद भी है। ७ वें गुणस्थान में अप्रमत्तविरत है। यहां निद्रा नहीं है। तो सूक्ष्म दृष्टिसे साधु को दो-दो, चार चार सेकेण्ड बाद सावधानी आया करती है। घंटा मिनट सोने की बात तो दूर रही, वे तो दस पांच-पांच सेकेण्ड बाद जग जाया करते हैं। इसीलिए उन साधुवों को सोते हुए भी जगता हुआ कहा जाता है। जैसे कितने ही मनुष्य ऐसे होते हैं कि सोते हुएमें दूसरेकी बातें सुनते रहते हैं, आधीधूधी सुनाई देती हैं और कोई खास अपने मतलबकी बात हो तो झट जग जाते हैं। ऐसी ही आधी-धूधी नींद साधु में रहती है और क्षण-क्षण बाद, सेकेण्डों बाद जागरण हो रहा है, वह गाढ़ निद्रा नहीं कहलाती है। करवट बदलेंगे तो पिछी से अपना शरीर झाड़ पोंछकर बदलेंगे।

मयूरपिच्छिकाके गुण— ईर्यासमितिकी साधनाके लिए मुनिको मयूरपंख ही बताया गया है। इसके कई कारण हैं। इस 'मयूरपिच्छिकामें अनेक गुण हैं। इसमें पसीना नहीं चिपकता, पानी नहीं ठहरता और ये इतने कोमल होते हैं कि आंखमें लग जायें तो भी कोई बाधा नहीं पहुंचाते, जीवोंको अलग करनेमें किसी जीवको बाधा नहीं होती—ऐसे अनेक गुण हैं और। साधु जन जंगलोंमें रहा करते थे। ये मयूरपंख जंगलोंमें आसानी से मिल जाया करते हैं। मयूर जंगलोंमें रहते हैं। कहीं भी २०, ४० पंख उठा लिये और उन्हींकी पिछी बन गयी। कोई हजार पंखकी बहुत बढ़िया पिछी बनाए, देखने में खूबसूरत लगे, बहुत बड़ी हो, ऐसी भावनाकी पिछी दोष करने वाली है। प्रथम तो उससे स्नेह हुआ, दूसरे पिछी लेनेका प्रयोजन तो यह था कि किसी जीवका घात न हो, किसी पर बोझ न हो, मगर बहुत बड़ी पिछी रख लिया तो उसमें तो बहुत बड़ा पिछीका भी भार बन जाता है। किसी जीवपर इतनी बड़ी पिछी रख दिया तो उसको कुछ बाधा हो सकती है इसलिए बहुत थोड़े पंखोंकी पिछी साधु जनोंको बतायी गयी है। साधु कमण्डलके बिना तो चल सकते हैं, विहार कर सकते हैं, पर पिछीके बिना वे विहार नहीं कर सकते हैं। यह सब व्यावहारिक ईर्यासमिति है।

ईर्यासमितिके पालककी महिमा— व्यावहारिक ईर्यासमिति तो उस साधु के है जो निश्चयईर्यासमितिका भी यत्न कर रहा है, तो वास्तव में उसके लिए यह चारित्ररूप समिति है। जो साधु इस ईर्यासमितिके मर्मको जानकर इस निश्चयईर्यासमिति के पथको जानकर कंचन और कामिनीके संगसे दूर रहते हैं और अनुपम अपूर्व सहज अपने आपमें

प्रकाशमान् चित्तस्वभावका अवलोकन करते हैं वे तो उस काल भी एक दृष्टिसे मुक्त ही हैं।

आत्मदेवकी निःसंदेह भक्ति— देखिये इतिहासों में जो प्रभुके चारित्र सुनाये गए हैं उनको अनेक समुदायोंने अपनी-अपनी मंशाके मुताबिक अनेक प्रकारसे गाये हैं। कोई इसमें कदाचित् संदेह भी कर सकता है, ऐसे थे वे प्रभु या नहीं थे। ऐसा ही किया या नहीं किया। भले ही वहां कुछ संदेह कोई कर बैठे, वह तो पीठ पीछेकी बात है, लेकिन यह आत्मदेव तो प्रकट साक्षात् सामने है, अपना-अपना आत्मप्रभु अपने आप अपने उपयोगके सामने हैं। थोड़ा इन्द्रियोंको संयत करके, विषय-कषायोंकी भावनाको दूर करके अपने आपमें ही थोड़ा निरखना भर है। यह तो साक्षात् अपनी आंखोंके सामने है, उपयोगके सामने है। देखो—है ना यह ज्ञानसे लबालब भरा हुआ अन्यथा बतलावो इसमें रूप है क्या? रस, गंध, स्पर्श, हैं क्या? ये तो कुछ भी इसमें नहीं हैं। यह तो आकाशवत् अमूर्त केवलज्ञानप्रकाशमात्र है।

आत्मदेवके निकट पहुंच— भैया! इसमें उजेला झक्काटा भी नहीं है। जैसे कि कोई लोग कहते हैं कि जब आत्माका ध्यान करने लगते हैं तो भीतरमें कुछ झक्काटासा होता है और उजेला नजर आता है तो वहां न झक्काटा हैं, न उजेला है, किन्तु ज्ञानमय विशद अनुभव ऐसा स्वच्छ है कि वहां अंधेरा जैसा अनुभव नहीं होता। वहां न अंधेरा है, न उजेला है। मुझे तो विदित होता है कि वहां न झक्काटा है, न प्रकाश है, न अंधेरा है, किन्तु जाननमात्र है, ऐसा ज्ञान तत्त्वसे लबालब भरा हुआ वह आनन्दमय आत्मतत्त्व समस्त जगत्के पदार्थोंसे निराला है। इसके अन्दर कोई दूसरी बात होती ही नहीं है। मैं किसी दूसरेसे बँधा हुआ नहीं हूं। जगत्के सर्व जीव स्वतंत्र हैं। ऐसा शाश्वत् चित्प्रकाशमात्र आनन्दमय ज्ञानस्वभावी आत्मप्रभुको जो साक्षात् देख लेता है वह पुरुष तो मानों मुक्तिके अत्यन्त निकट है। यह सब अंतरङ्ग गमनका प्रसाद है, निश्चयईर्यासमितिका प्रभाव है।

साधु संतोंका सहज योग्य व्यवहारप्रवर्तन— साधुजन जब चलते हैं उठते हैं, बैठते हैं, करवट बदलते हैं तो उनका सहज ही ऐसा कार्य बनता है। मैं साधु हूं, इसलिए पिछीसे झाड़कर बैठना चाहिए। इतना सोचनेका अवकाश उन्हें नहीं मिलता, किन्तु वे सहज ही झाड़कर बैठ जाते हैं। जैसा चाहे उठे, बैठें, भागें, गमन करें, जीवरक्षा का कोई ध्यान न हो तो ऐसी स्थितिमें उस साधुको क्या चारित्रकी मूर्ति कहा जा सकता

है? यद्यपि वे मुनि ज्ञानी जीव पिछीमें कोई देवत्वका निश्चय नहीं रखते, किन्तु उसे संयमका उपकरण समझकर उसका उपयोग किया करते हैं। कुपथमें चलनेके लिए उन मुनिजनोंका मन ही नहीं करता है और देव वंदनाको, गुरु वंदनाको या आवश्यक धर्मध्यानके कर्तव्यके समय इस पिछीको हाथमें लेकर जाते हैं, उस पिछीसे जीवोंका बचाव करते हैं, तो कुछ बाह्य वातावरणसे भी उनमें विशेषता आ जाया करती है।

द्विविध संयम— यह ईर्यासमिति समस्त चारित्रों का मूल है। त्रस जीवोंका घात और स्थावर जीवोंके दाहसे बचाने वाली यह ईर्यासमिति है। साधुजनोंके दो प्रकारके संयम होते हैं। एक उपेक्षासंयम और दूसरा अपहृतसंयम। उपेक्षा संयमका अर्थ यह है कि कहीं जीव बहुत चल रहे हैं, उनका बचाव यों नहीं हो सकता है तो उस जगहको छोड़कर निकट दूसरी जगहसे चलदें या किसी स्थान पर बैठना हो और उस स्थान पर जीव अधिक हों तो वहां झाड़कर न बैठें, किन्तु उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थानमें बैठ जायें, या जानेमें उस स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानसे चलदें यह है मुनियोंका उपेक्षासंयम। और जब देखें कि उस स्थानको छोड़कर दूसरे मार्गसे जानेका मार्ग ही नहीं है अथवा दूसरा स्थान कोई बैठने के लिए नहीं है और थोड़े बहुत ही वहा जीव हों तो उस स्थानको साफ करके साधु बैठ सकता है। लेकिन कदाचित् जीवोंकी संख्या बहुत हो तो विहार बंद करके साधु लौट आयेगा अथवा उसे प्रयोजन ही नहीं है बैठनेका। तो साधुजन जीवरक्षामें सावधान रहते हैं।

षटकायके रक्षक — साधुजनोंको ६ कायके जीवोंकी रक्षा करनेवाला बताया गया है। ६ काय कौन कौन हैं? पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय। इन सबकी रक्षा करने वाले साधु होते हैं। ऐलक और क्षुल्लकका भी वही जीवरक्षाका कर्त्तव्य है। ऐलकका अर्थ है कम कपड़े वाला। ऐलक शब्दमें जो अर्थ भरा है उसका अर्थ है अत्यन्त कम कपड़े वाला। जिसका प्रसिद्ध अर्थ है एक लंगोटी मात्र रखने वाला। ऐलक शब्द अचैलकसे बना है। अचैलकमें अ का अर्थ "नहीं" नहीं है, किन्तु ईषत है। ईषत् मायने थोड़ा, चैल मायने कपड़ा। जैसे लोकव्यवहारमें बोलने लगते हैं, अरे तुम बड़े मैले कुचैले हो। कु मायने खराब और चैल मायने कपड़ा। तो जिन कपड़ोंको गृहस्थ न पसन्द करें ऐसा वह कपड़ा है ऐलककी लंगोटी। ऐसा थोड़ा जो चैल रखनेवाला है उसका नाम है अचैलक। इसमें च का लोप होकर प्राकृतमें ऐलक हो जाता है।

क्षुल्लकमुनि— ऐलकके पहिले है क्षुल्लक। क्षुल्लक मायने छोटा, तुच्छ। यह संस्कृतका शब्द है। क्षुल्लक एक मुनि शब्द का विशेषण है; श्रावक शब्द का विशेषण नहीं। अगर श्रावक शब्दका विशेषण हो तो उसका अर्थ हो जाय—तुच्छ श्रावक, छोटा श्रावक। पर क्षुल्लक शब्द मुनिका विशेषण है जिसका अर्थ है छोटा मुनि, तुच्छ मुनि। क्षुल्लकको भी पिछी बताई गयी है। पर कदाचित् क्षुल्लक कोमल कपड़ेसे भी पिछी का काम कर सकता है। न पिछी हो तो ऐसा अनिवार्य नहीं है कि वह विहार ही नहीं कर सकता। कोई कोमल कपड़ा हो तो उस कोमल कपड़े को हाथमें लेकर विहार कर सकता है। ऐलकको पिछी अनिवार्य है क्यों कि वह मुनिके अत्यन्त निकट पहुंच गया है। तो पिच्छिका संयमका उपकरण है, जीवरक्षाका साधन है।

निश्चयसमितिके सहवाससे व्यवहारसमितिकी समर्थता— साधुजन जब विहार करते हैं या लौटते हैं या थोड़ा भी करवट बदलते हैं तो ये सब बातें पिच्छिका हुए बिना नहीं कर सकते। यदि न हो पिच्छिका तो साधु यों ही बिना हिलेडुले खड़ा रहेगा, पड़ा रहेगा। तो व्यवहारईर्यासमिति निश्चयईर्यासमितिके साथ शोभाको प्राप्त होती है। ईर्यासमिति संसाररूपी दावानलके संतापके क्लेशको शांत करने वाली है।

पिच्छिकाके पंखमें विद्या की प्रसिद्धिका कारण—बहुतसे लोग कहते हैं कि यह पिच्छिका विद्या है। पिछीका एक-एक पंख विद्या कहलाता है। सब लोग प्रायः कहते भी हैं कि विद्या हमें दो, बल्कि चलते हुएमें मुसलमानों तकके बालक यह कह देते हैं कि यह विद्या है। अरे यदि विद्या है तो बाजारोंमें खूब बिकते होंगे, ले आवो ४ रुपयेमें हजारों पंख, फिर खूब उनसे विद्या ले लो। उन मयूरपंखोंसे विद्याकी रूढ़ि कैसे हुई? सो सुनिये, साधुजनोंके पास पिछी रहती थी, शास्त्र रहता था, शास्त्र पढ़ रहे हैं, जहां तक पढ़ा वहां निशान लगानेके लिए कोई दूसरी चीज न मिले और पिछीमें से कोई पंख उखड़ जाय, टूट जाय तो वही शास्त्रमें रख लेते थे। लोगोंने देखा कि महाराज शास्त्रमें इसे रखते हैं, यह विद्या है। इसी वजह से इनमें ज्ञान लबालब भरा हुआ है। इस तरह इसमें विद्याकी रूढ़ि हो गई। आज तक भी लोग कहते हैं। इससे जैनधर्मके चारित्रकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

ओनामासी धमकी प्रसिद्धिमें कारण जैनतत्त्वकी व्यापकता— जैसे अध्ययनके कार्यमें लोग कभी-कभी अहानामें लोग यों बोल देते हैं कि 'ओनामासी धम, बाप पढ़े ना हम।' इस प्रसिद्धिका स्रोत क्या है, सो

सुनिये, पूर्वकालमें 'ॐ नमः सिद्धम्' बोला जाता था। पहिले सबको यही पाटी पढ़ाई जाती थी 'ओनामासी धम्, सीदो वर्ना समामनाया, चतुरो चतुरो दासा' इत्यादि ५-६ पाटी पढ़ाई जाती। यह पाटी जो हमने बोली है वह पढ़ने वालोंकी भाषामें बोली है, यह सब अशुद्ध है। शुद्ध क्या है— 'ॐ नमः सिद्धम्, सिद्धोवर्णसमाम्नायः, तत्र चतुर्दशादौस्वराः' ऐसा चलता जाता है। तो ये सूत्र चलते थे जैनव्याकरणके। ये सब कातन्त्रव्याकरण के सूत्र हैं। इसकी रचना कैसे हुई ? सो सुनिये।

सुगम प्राचीन जैनव्याकरणकी रचनाका इतिहास— एक बार एक राजा अपनी रानियों सहित तालाबमें खेल रहा था—जिसे जलक्रीड़ा कहते हैं, एक दूसरे पर छींटें मारे जा रहे थे। यह वृत्त हजार वर्ष पहिले का है। तो जब रानी छींटोंसे परेशान हो गयी तो रानी कहती है— 'मोदकं देहि राजन् !' उसका अर्थ था कि हे राजन् ! अब जल छींटे न मारो। उसका अर्थ राजाने यों लगाया कि यह रानी लड्डू मांग रही है— सो तुरन्त आज्ञा दी अपने नौकरोंको, जावो लड्डुओंका टोकरा ले आवो। तब रानीने थोड़ा मूर्खताका उलहना दिया तो राजा को इतनी चोट लगी कि यदि मैं संस्कृतका जानने वाला होता तो आज क्यों इतनी गालियां सुननी पड़तीं। तो उसने संकल्प किया कि मैं संस्कृत पढ़कर रहूंगा। यह बहुत पुरानी घटना है। वह एक आचार्यके पास गया, बोला महाराज ! मैं बहुत मूर्ख हूं, संस्कृत भाषा पढ़ना चाहता हूं, मुझे ऐसी सरल पद्धतिसे संस्कृत सिखावो कि जल्दी आ जाय। उस समयके आचार्यों की यह व्याकरण है। उसी व्याकरण के ये सूत्र हैं, जो ब्राह्मण वगैरह सब अध्ययनमें पाठमें पढ़ते हैं 'ॐ नमः सिद्धं, अर्थात् सिद्धको नमस्कार हो, इसमें एक वाक्य है। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' में और 'ॐ नमः सिद्धं' में अन्तर देखो—'ॐ नमः सिद्धेभ्यः का अर्थ है सिद्धोंको नमस्कार हो और 'ॐ नमः सिद्धम् का अर्थ है साधु को अनुकूलित करने के लिए नमस्कार हो। इसमें भाव उजाला भरा हुआ है। जैसे नमस्कार दो तरहके होते हैं। तुम्हारे हाथ जोड़ें—यह भी नमस्कार है, एक प्रेमपूर्वक हाथ जोड़ना यह भी नमस्कार है। खैर, इन दोनोंमें इतना अन्तर तो नहीं है, लेकिन 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' का अर्थ है सिद्धोंको नमस्कार हो और 'ॐ नमः सिद्धं का अर्थ है—सिद्धके गुणोंको अपनेमें उतारते हुए उनको भाव नमस्कार हो। यों जिस प्रकार 'ओनामासी धम्' से जैन विद्याकी प्राचीनता सिद्ध होती है इसी प्रकार मयूरपंखको विद्या कहने से जैनचारित्रको प्राचीनता सिद्ध होती है।

दुर्भावसंतापशामक मेघवर्षण— ईर्यासमिति सहज ज्ञानस्वरूप आत्मदेवकी वंदनाके लिए उपयोगका जो गमन है उसे निश्चयईर्यासमिति कहते हैं। यह समिति संसारके संताप अग्निको शांत करनेके लिए घनमेघ मालाकी तरह समर्थ है। जैसे जंगलमें बहुत तेज आग लग चुकी हो तो उस आगको बुझानेमें नगरपालिकाके फायर विभाग समर्थ नहीं हैं। उस पर तो घनमेघमाला बरस जाय तो क्षणमें ही आग शांत हो सकती है। इसी प्रकार विषय कषायोंके दुर्भावोंके संतापसे इस आत्मभूमिमें अग्नि जल रही है, लहलहा रही है, इस अग्निके संतापको दूर करनेमें समर्थ न मित्रजन हैं, न घरके लोग हैं, किन्तु एक भेदविज्ञानके द्वारसे आया हुआ जो यह ज्ञानानुभवरूप रूप मेघवर्षण है वह ही एक समर्थ है।

उपादेय और हेय वैभव— यह उपयोग आत्मस्वभावकी ओर गमन करे, इससे उत्कृष्ट लोकमें कोई वैभव नहीं है। जिसे लोग वैभव कहते हैं वह तो धूल है। लाखोंका वैभव हो अथवा करोड़ोंका वैभव हो, वह इस आत्माको आकुलताका ही निमित्त बनता है। शांत ज्ञानामृत स्वच्छ, पवित्र ज्ञान सुधारसके स्वादमें वैभवका रंच भी हाथ नहीं है। यदि इस धन वैभवमें शांतिकी सामर्थ्य होती तो बड़े-बड़े तीर्थंकर, चक्रवर्ती क्यों त्याग देते? उन्होंने इस धन वैभवको असार समझ कर इस तरह त्यागा जैसे कोई नाक छिनक कर बाहर फेंक देते हैं, उसकी ओर फिर दृष्टि नहीं देते। ऐसे ही उन्होंने इस वैभवको ऐसा त्यागा कि उसका फिर स्मरण भी नहीं किया। यही है निश्चयईर्यासमिति। यह अपनी ही कहानी है, अपने ही आनन्दकी चर्चा है।

आनन्दपोषिका मेघमाला— शाश्वत् नित्यप्रकाशमान् अछेद्य, अभेद्य इस चैतन्य महाप्रभुके उपयोगका नाम है समिति। यह परमानन्द-रूप धान्यको उत्पन्न करने वाली और पुष्ट करने वाली मेघमाला है, और साथ ही कुछ जब तक अनुराग रहता है तो इस भुसरूप पुण्यको भी पैदा करने वाली है। धर्म तो है बीज और पुण्य है तुष। जो धर्मके मार्गमें लगता है उसके जब तक भव शेष है यह पुण्य-पुण्य तो मिला ही करेगा। धन्य हैं वे ज्ञानी पुरुष जो पुण्य, पाप दोनोंको समान मानकर हेय समझ कर उन दोनोंसे विविक्त इस ज्ञानानन्दभावरूप धर्ममें आते हैं।

सुख दुःखमें समानताका कारणभूत ज्ञान— ज्ञानीकी दृष्टि सुख और दुःखमें समान रहती है। सुख आया तो क्या? सुख तो दुःख देकर मिटा करता है। दुःख आया तो क्या? दुःख सुख देकर मिटा करता है। खूब खूब परख लो। जिस किसीको भी सुख मिला तो वह सुख-दुःख देकर

मिटेगा, और जिसे दुःख मिलता है उसे सुख देकर वह दुःख मिटेगा। क्योंकि संसारचक्र में सुख और दुःख एकके बाद एक परिवर्तित होते रहते हैं। अरे उस दुःख देकर मिटने वाले सुखसे क्या प्रेम करना? फांसी पर लटकाये जाने वाले पुरुषके आगे मिठाई का थाल रख दिया जाय कि खाओ भाई खूब प्रेम से छककर भरपेट, पर उसको उस भोजनके खानेमें रुचि होती है क्या? उसे तो मालूम है कि फांसी पर लटकाया जानेसे पहिले होने वाले ये सब नेग दस्तूर हैं। यों ही दुःख देनेके लिए आये हुए ये लौकिक सुख हैं। ये मिठाईके थाल हैं। ज्ञानी जीव जानता है कि यह दुःखके महागर्तमें पटकनेके लिए विषयोंके भोग और उपभोगों का समागम मिलना नेग दस्तूर है। ज्ञानीको इस लौकिक सुखमें अनुराग नहीं होता।

ज्ञानीके विपदाभयका अभाव— यों ही सुख देने वाले दुःखमें ज्ञानीको कभी घबड़ाहट भी नहीं होती है। आये हैं दुःख, आने दो, ये दुःख अतिथि हैं, मेहमान हैं, ये सदा न रहेंगे और दुःख है भी क्या? कल्पना बनाली तो दुःख हो गया। यहीं परख लो, जितने भी सज्जन यहां बैठे हैं, सब अपनेमें कोई न कोई एक दुःख लिए हुए रहा करते हैं। क्या दुःख है सो बताओ? कोई यों सोचते होंगे कि धन कम है और बढ़ जाय। अरे धन जितना है वह आवश्यकतासे ज्यादा है, आगेकी तृष्णा क्यों करते हो, क्या इससे निर्धन और लोग नहीं हुआ करते। क्या क्लेश है? बहुत धन हो गया तो उसकी रक्षा करनेका क्लेश है, यह सुरक्षित नहीं रहता। अरे नहीं रहता तो न रहने दो। नहीं रह पाता तो यों क्यों मिटावो, पर-उपकारमें उस धनको लगा दो तो उससे होने वाला पुण्य साथ ले जावोगे। फिर भी नहीं रहता है तो जैसे मानों १० वर्ष बाद छोड़कर जायेंगे तो आज से ही छूट गया तो उसमें क्या बुरा हो गया? मेरा धर्म, मेरा ज्ञान मुझसे अलग हो तो मैं बरबाद होऊँगा।

व्यर्थका क्लेश— खूब परख लो कौन सा क्लेश है? क्लेश बनाये जा रहे हैं। कोई कुटुम्बमें गुजर गया अथवा अकेले रह गये, बड़ा क्लेश महसूस करते हैं। अरे समस्त पदार्थोंका नग्न स्वरूप है, परमाणु हो तो, आत्मा हो तो, सभी द्रव्योंका नग्न स्वरूप। है प्रत्येक पदार्थ मात्र अपने स्वरूपको लिए हुए है, किसी दूसरे पदार्थ को लपेटे हुए नहीं है। यदि किसी पदार्थके स्वरूपमें अन्य पदार्थका स्वरूप प्रवेश पा जाता तो आज यह देखनेको दुनिया न रहती। क्योंकि संकरता आ गयी तो कौन किस रूप हो जाय? फल यह होता कि सर्वशून्य हो जाता। कोई कष्ट नहीं है। कष्टके विकल्पको त्यागें, अपने आपको स्वतन्त्र निश्चल एकाकी

ज्ञानमात्र देखें और बहुत बड़ी कमायी करलें। थोड़ासा इस असार वैभव की तृष्णामें आकर अपने अनन्त ज्ञान अनन्त सुखकी निधिको बरबाद न करें।

बबूलेको क्या अपनापत ?— भैया ! क्या है ? यह जीवन पानी के बबूलेकी तरह है। पानीमें उठा हुआ बबूला कितनी देर रहेगा ? वह शीघ्र ही मिट जाता है। बबूला मिट जाय इसमें आश्चर्य नहीं है किन्तु वह १०—५ सेकेण्ड टिक जाय तो उसमें आश्चर्य है बरसातमें खपरैलसे अरवनियां गिरती हैं और पानीका बबूला बन जाता है। बच्चे लोग उन बबूलोंमें ऐसी कल्पना कर लेते हैं कि यह बबूला मेरा है, दूसरा कहता है कि यह बबूला मेरा है। कल्पना कितने प्रयोजनके लिए है कि मैं यह बतादूँ कि यह मेरा बबूला इनके बबूलेसे ज्यादा देर टिक सका। केवल इस प्रयोजनके लिए उन बबूलोंमें आत्मीयता करते हैं। अधिक देर तक टिक जाय तो वे खुश होते हैं। अरे बबूलोंके मिटनेका क्या आश्चर्य है, टिकने का आश्चर्य है। ऐसे ही बबूलेकी तरह क्षणिक इन पदार्थोंको जीवोंने अपनी कल्पनासे अपना कर लिया है कि यह कितने दिन टिकेगा ? यह जब है तब भी संग नहीं है, बबूला जब उठ रहा है तब भी नहीं है बालकका। लेकिन वह कल्पना करके खुश होता चला जा रहा है।

भगवंत संतोंका उपकार— केवल इस प्रयोजनके लिए उन बबूलोंमें आत्मीयता करते हैं। अधिक देर तक टिक जाय तो वे खुश होते हैं, अरे बबूलोंके मिटनेका क्या आश्चर्य है, टिकने का आश्चर्य है। ऐसे ही बबूलेकी तरह क्षणिक इन पदार्थोंको जीवोंने अपनी कल्पनासे अपना कर लिया है कि यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है। अरे यह कितने दिन टिकेगा ? यह जब है तब भी संग नहीं है। बबूला जब उठ रहा है तब भी नहीं है बालकका। लेकिन वह कल्पना करके खुश होता चला जा रहा है।

भगवंत संतोंका उपकार— अहो, इन संत पुरुषोंका हम कितना उपकार मानें ? उनका ऋण चुकानेके लिए हम आपके पास कोई सामर्थ्य नहीं है। और मूलमें मूलगुरु तीर्थंकर भगवान्का हम कितना बड़ा उपकार मानें कि जिनकी परम्परासे आज हमें यह बोध होता है कि जगतके प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र हैं, इस कारण मेरा कहीं कुछ नहीं है। 'न अपना ज्ञान जब खोता, भिखारी क्यों बना होता। खुदीका खुद पुजारी तू, कर्मोका धन गया होता ॥'' केवल परपदार्थोंमें रह मैं हूं, यह मेरा है, इस दुर्बुद्धिसे संसारमें गोते खाते चले जा रहे हैं, अरे जो बात सच

है उसके मानने में भी कितना कष्ट हो रहा है ? यह नहीं कह रहे हैं कि अपना घर छोड़ो, दुकान छोड़ो, पैसा छोड़ो, अरे इससे कई गुणा धन आयेगा उसे कहां मिटाया जायेगा, पर यथार्थ बात मनमें बनी रहेगी तो अशांति नहीं हो सकती। इतना लाभ है।

निश्चयसमितिकी अनभिज्ञताका परिणाम— यह निश्चयईर्या समिति सदा जयवंत हो, जिसके प्रसादसे संसारके समस्त क्लेश समाप्त हो जाते हैं। जो प्राणी इस निश्चयरत्नत्रयसे विमुख हैं अर्थात् अपने ज्ञान को अपने सहज ज्ञानस्वरूपके जाननेके लिए नहीं ले जाते हैं ऐसे संसारके रोगी कामवासनाके बीमार, विषयोंकी इच्छाके भिखारी जीवोंका इस संसारमें जन्म होता रहता है। इस मिले हुए शरीरको क्या निरखना ? शरीरोंका मिलना ही तो संसार है। यही तो एक कष्ट है। किसी क्षण इन शरीरोंका मिलना बंद हो जाय, बस इसीके मायने तो प्रभुता है। जब हमें शरीर न मिलें ऐसे पंथ पर चल रहे हैं तो वर्तमान शरीरमें राग करना, यह तो विवेक नहीं है।

सेवक शरीरकी सेवाकी कृपासीमा— खैर, नौकरकी तरह जान कर शरीरको भोजन दें, जैसे सेवक बड़ा उपकारी होता है, और इसी कारण उसका पोषण किया जाता है, यों ही वर्तमानमें यह शरीर सेवकोंकी तरह है। संयमसाधना, ध्यानसाधनाके लिए यह शरीर सहकारी हो रहा है। सहकारी कुछ नहीं हो रहा है, इतना भर काम हो रहा है कि यह दुष्ट कोई दुष्टता न करे। दुष्टोंको भी तो हाथ जोड़कर मनाया जाता है और वे मान जायें तो उनको कहा जाता है कि इन्होंने हमारा बड़ा उपकार किया। उपकार तो कुछ नहीं किया। यही किया कि दुष्ट ने दुष्टता नहीं की। इसी तरह शरीरको भी भोजन दिया जाता है। यद्यपि इससे कुछ संयममें मदद नहीं मिलती किन्तु इतना लाभ होता कि क्षुधा तृषाकी वेदना और आकुलताकी दुष्टता नहीं हो पाती। इतना भर लाभ है शरीरके पोषणमें। नियम और साधना ये तो अपने ज्ञानके द्वारा ही साध्य हैं।

स्वच्छ हार्द रखनेका कर्तव्य— इस ईर्यासमितिके बिना, परमार्थभूत आत्मस्वभावकी ओर उपयोगको ले जानेके बिना इस प्राणीका इस लोकमें जन्म होता रहता है। इस कारण हे मुने, हे विवेकी जन, हे मुमुक्षु पुरुष, अपने इस आत्मघरको इतना स्वच्छ रखो जहां मुक्ति रानीका आगमन हो सके अर्थात् तू मुक्तिके लिए उद्यम कर। संसारमें उपयोगमत फंसा। यहां तो तू जलमें कमलकी भांति रह। जो जीव इस निश्चयईर्या-समितिको उत्पन्न करते हैं अर्थात् अपने आत्मदेवकी भाववंदनाके लिए

गमन करते हैं वे मोक्षरूप होते हैं। वास्तविक गमन वही है जो आत्माकी ओर हो। नहीं तो संसारमें भटकना बना रहता है।

चारित्रधारीकी वंदनीयता— यह प्रकरण चल रहा है व्यवहार-चारित्रका। व्यवहारचारित्रमें पंचव्रतोंके पालनकी बात है और इन पंच-व्रतोंकी उत्कर्षता बढ़ानेके लिए, पंचव्रतोंकी रक्षा करने के लिए पंचव्रतोंका फलित स्वाद लेनेके लिए ५ समिति और तीन गुप्तियोंका वर्णन है। इसे अष्टप्रवचन मातृका कहा है। ५ समिति और तीन गुप्ति इनके स्वरूपका प्रयोजनका, वृत्तिका भली प्रकार ज्ञान हो तो वह मुनि अन्य शास्त्रोंका विशेष ज्ञान न भी रखता हो तो भी वह मुक्तिका अधिकारी हो जाता है। यह ईर्यासमितिका प्रसंग चल रहा है। जो जीव निश्चयईर्या-समितिका पालन करता है और प्रयोजन होने पर, व्यवहारमें आने पर व्यवहार-ईर्यासमितिका सहज परिप्रवर्तन करता है वह साधु पुरुष सिर नवाकर वंदनीय है। यों ईर्यासमितिका वर्णन करके अब भाषासमितिका लक्षण कह रहे हैं।

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहियं भासासमिदी वदंतस्स ॥६२॥

भाषासमितिमें परिहार्य पञ्चवचन— चुगली, हँसी, कठोरवाणी, परनिन्दा, अपनी प्रशंसारूप जो वचन हैं उनका परित्याग करने वाले साधुसंत जो निज पर कल्याणके ही वचन बोलते हैं उस वचनालापके करनेको भाषासमिति कहते हैं। भाषासमितिके लक्षणमें इतनी बातों को अत्यन्त हेय प्रदर्शित किया है। चुगली, हसी, मर्मभेदी वचन बोलना, दूसरोंकी निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना—ये ५ चीजें परिहारके अर्थ ख्यालमें रखिये। अपने जीवनमें भी इन ५ बातोंका परिहार बना रहे तो आपका आत्मा भी आनन्दरूप बर्तेगा और जहां आप होंगे वहांके वातावरणमें जितने मनुष्य लगे होंगे वे भी प्रसन्न हो जायेंगे। जैसे इत्र लगाने वालेके समीप सब लोग खुशबू लेते रहते हैं ऐसे ही सज्जन पुरुषोंके समीप बसने वाले सब मनुष्य प्रसन्नवदन रहा करते हैं। उन पांचों चीजों का क्रमसे कुछ स्वरूप सुनिये।

पैशून्यवचन— चुगली— चुगली कहो या दोगलापन कहो, चुगली का अर्थ है चार गलेकी बातका नाम। इससे कही उससे कही, जो चार जगह यहांकी वहां, वहांकी यहां बातें करे, वह है चुगल और दूसरेके गलेमें उतार दे दूसरेकी बात वह है चुगली। चुगलका नाम है संस्कृतमें

कर्णेजय, जो दूसरोंके कानमें जाप देवे। चुगल दूसरेके कानमें धीरे-धीरे बात कहा करता है। कोई बात चुगलने जोरसे बोल दी तो ऐसा लगेगा सुनने वालेको कि कोई महत्त्वकी बात नहीं है और धीरेसे कहे, कानमें कहे कि अमुक ऐसा है तो वह जानेगा कि यह कोई खास भीतरी मर्मकी बात कह रहा है। चुगलका नाम क्या है? कर्णेजप। जो दूसरोंके कानमें जाप किया करे। उस चुगलके मुखसे निकले हुए जो वचन हैं वे पैशून्य कहलाते हैं, चुगलीके वचन कहलाते हैं।

पशून्यवचनसे विपदाका विस्तार— कोई चुगली एक पुरुषकी विपत्तिका कारण है। कोई चुगली एक कुटुम्ब भरकी विपत्तिका कारण हो जाती है, और कोई चुगली एक गांव भरकी विपत्तिका कारण हो जाती है। क्या सार रक्खा है चुगलीमें? जो चुगल है वह सदा भयभीत रहता है, कहीं मेरे मायाचारकी बात प्रकट न हो जाय, ऐसी सदा शंका बनी रहती है। यहांकी बात वहां करे, वहांकी बात यहां करे, और उन दोनोंमें परस्परमें कलह करा दे। क्या पड़ी है? हां अपना कोई मित्र हो और उस को सावधान रखनेके लिए किसी की आलोचना कर दी जाय तो वहां आशय उसका खोटा न हो तो वह मित्रतामें शामिल है, न होगा चुगलीमें शामिल, किन्तु ऐसा भी होता कहां है?

जैसे किसीको जुवेकी आदत पड़ जाय तो उसे बिना खेले चैन नहीं पड़ती। जिन बच्चोंको तास खेलनेकी आदत होती है वे सुबह होते ही तास लेकर बैठ गये, १२ बज गये—मां बुला रही बेटा खाना खा जावो। तो वह कहता कि अभी एक दांव तो और चलने दें। जिसको जिसकी आदत पड़ जाती है वह बंधनमें हो जाता है। किसी परपुरुषसे या किसी परस्त्रीसे स्नेहका प्रारम्भ करना भी महान् विडम्बना है। थोड़ा प्रारम्भ करे तो वह फिसल कर अंतमें बरबाद ही होगा। किसी भी दुराचारके लिए बात प्रारम्भ करना भी खतरे से भरपूर है। इस जीवनमें बड़ा सावधान रहना चाहिए।

चुगलकी मच्छरवत् चर्या— चुगलको बताया है मच्छरकी तरह। जैसे मच्छर पहिले पैरमें गिरता है, फिर पीठका मांस खाता है और फिर कानमें कुछ धीरे-धीरे बोला करता है, समझ गये ना? ये काट खाने वाले मच्छर ऐसा ही करते हैं। इसी तरह यह चुगल पहिले पैरोंमें गिरता है और फिर पीठ पीछे उसकी हानिकी बात किया करता है और फिर दुबारा उसके कानमें भरभराया करता है। क्या तत्त्व रक्खा है चुगलीकी बातमें?

साधुवोंमें पैशून्यका पूर्ण अभाव— साधुसंत पुरुषोंमें चुगलीका लेश भी नहीं रहता। किसकी चुगली करना, किससे चुगली करना ? मुनिजनोंको तो जरा भी अवकाश नहीं है कि बैठकर तो खा लें। इसलिए वे खड़े ही खड़े आहार करके चले जाते हैं। देखा होगा मुनियोंको। अब कोई यों जाने कि हम तो साधु हैं, खड़े होकर खाना चाहिए तो यह तो यह तो उसकी पर्याय बुद्धि है। अरे साधुको इतनी नहीं है, उसे तो ध्यान है आत्मचिन्तनका, आत्महितका, अपने ज्ञान ध्यानमें लवलीन रहनेका, सो उन्हें बैठकर अच्छी तरह आहार करनेका अवकाश ही नहीं है। यह है आन्तरिक मर्म खड़े होकर भोजन करनेका। और व्यवहारमें मर्म यह है कि खड़े होकर कम खाया जाता है। तो आलस्य न आयगा। अब किसीके खड़े होकर भी डबल खानेकी आदत पड़ जाय तो उसका इलाज क्या होगा हमें तो नहीं मालूम। तो जिसको आत्महितकी धुन लगी है ऐसे ज्ञानी संत पुरुषको अवकाश कहां है ? फिर किसकी वह चुगली करे और किससे करे ? चुगली विपत्तिका कारण है। चुगली कुटुम्बकी विपत्तिका कारण है अथवा ग्रामका ग्राम एक चुगलकी वजहसे नष्ट हो जाया करता है। चुगलीका वचन अत्यन्त हेय है।

हास्यकर्मकी हेयता— जैसे चुगली हेय है इसी प्रकार हंसी मजाक करना भी हेय है। कहीं पर किसी समय कुछ भी दूसरे मनुष्यके विकृत रूपको देखकर अथवा कोई बातको सुनकर जो कुछ खुशीके परिणामसे नितोजुली हँसी करने वालेके मुखमें विकार हो जाता है वह हँसी मजाक कहलाता है। जो हँसी मजाक करे उसका जरा कैमरे से जरा फोटो तो उतार लो और फिर उसे दिखावो बड़ा खराब उसका लगेगा। दूसरेके मुख विकारको देखकर जिसने हँसीकी उसका मुख विकार उससे भी विकृत बन जाता है, और फिर कहते हैं कि रोगकी जड़ खांसी, और झगड़ेकी जड़ हांसी। हँसी करनेके लिए रंच भी उन्मुख मत हो। अभी लग रही है हँसी, और किसी समय हो जायगा यही भयंकर रूप तो जीवन भरके लिए वैर बन सकता है। तो हँसी मजाकके भी वचन साधु संत पुरुषोंके नहीं हुआ करते हैं। इस प्रकरणमें उन ५ निन्दनीय वचनोंकी चर्चा चल रही है।

हास्यभावमें रुद्रताका आशय— लोग हँसी किया करते हैं कब ? जब हास्यनामक नोकषायका उदय रहता है। इसका उदय प्रायः करके थोड़ी-थोड़ी देर बाद चला करता है तब वहां बाह्य निमित्त पाकर और उस ओर उपयोग होने पर इसकी हँसी मजाककी वृत्ति हो जाती है। यह हास्य यद्यपि कुछ हर्षसे भरा हुआ है, फिर भी यह अशुभ कर्मबंधका कारण

है। किसीकी हँसी मजाक करना पापबंधका कारण है। दूसरे को क्लेश पहुचाये बिना और भीतरमें दुःखी करनेके परिणाम आये बिना अथवा अपने आपमें मद आये बिना हँसीमजाक नहीं किया जा सकता है। इस कारण यह हास्य कर्ममय वचन भी अतिनिन्दनीय है, इसका प्रयोग न करना चाहिए।

कर्कश वचनका रूप— तीसरा हेय वचन कहा जा रहा है कर्कश वचन। जो वचन दूसरोंको अप्रीति पैदा करे उसका नाम है कर्कश वचन। यह कान एक टेढ़ीमेढ़ी पूड़ी की तरह है, अथवा मूँगकी दालके बरोलेकी तरह है। ऐसे कर्णशष्कुलीके बिलके निकट पहुंचने मात्रसे ही जो वचन दूसरोंको अप्रीति उत्पन्न करें उसे कर्कश वचन कहते हैं। क्रोध कषायमें लोग प्रायः कर्कश वचन बोलते ही हैं। उन वचनोंके क्या उदाहरण देना, और उदाहरण देकर समय क्यों खराब करना ? देहातीजन, असभ्यजन मर्मभेदी कठोर वचनोंका प्रयोग करते हैं।

कर्कश वचनकी चोट— एक लकड़हारा था, वह लकड़हारा लकड़ी बीनने जंगलमें गया। सामने देखा कि एक शेर लंगड़ाता हुआ आ रहा है। पहिले तो वह डरा, पर क्या करे ? सिंह तो अत्यन्त निकट आ गया और लकड़हारे के सामने पड़कर अपना पंजा दिखाया। पञ्जेमें बहुत बड़ा कांटा लगा था, लकड़हारेने उस कांटेको निकल दिया। सिंह उसका बड़ा कृतज्ञ हुआ, और गिड़गिड़ाकर कहने लगा कि रे लकड़हारे, तुम लकड़ीका बोझ अपने सिर लादकर ले जाते हो सो ऐसा न करो, अब तुम हमारी पीठ लादकर ले चला करो। वह सिंहकी पीठ पर लकड़ीका बोझ लादकर घर ले गया। दूसरे दिन भी गया तो उसने सोचा कि यह सिंह तो लादकर ले ही जाता है चलो २५ सेरकी जगह पर अब १ मन लकड़ी ले चलें। २ मन लादे, फिर चार मन लादे और अपने घर लकड़ी ले जाय। इस तरह वह लकड़हारा थोड़े ही दिनोंमें धनी हो गया। जिस समय वह लकड़ी रख रहा था तो लोगोंने पूछा कि कहो भाई, तुम कैसे इतना जल्दी धनी हो गये ? तो वह बोला कि मेरे हाथ एक स्याल गधा लग गया है वह बोझा लाता है जिसके कारण मैं धनी हो गया हूं। यह बड़ी तेज आवाजमें बोला था, सो शेरने सुन लिया, सुनते ही उसके दिलमें बड़ी गहरी चोट लगी।

कर्कश वचनमें प्राणघातसे भी अधिक विघात— इसके बाद दूसरे दिन जब लकड़हारा चार मन लकड़ी लादकर लानेकी उत्सुकतामें था कि वह सिंह लकड़हारेके पास आकर कहता है रे मनुष्य ! आज तुम अपनी

कुल्हाड़ी बड़ी तेजीसे मेरे सिर पर मारो, मैं जीना नहीं चाहता हूं। वह डरा। सिंहने कहा देखो यदि तुम नहीं मारते हो तो मैं तुम्हें मार डालूंगा। इस मनुष्यने अपनी जान बचानेके लिए सिंहके सिर पर बड़े जोर से कुल्हाड़ी मारी। शेर मरता हुआ कह रहा है कि तुम्हारी कुल्हाड़ीकी धार उतनी ही पैनी मुझे नहीं लगी जितने पैने तीक्ष्ण तुम्हारे वे वचन लगे थे कि मेरे हाथ एक स्याल गधा लग गया है।

कर्कश वचनकी हेयता—भैया! कर्कशवचन का घाव बहुत बुरा हो जाता है। इस मनुष्य जीवनमें यदि बोलचालके लिए जीभ पायी है तो उसका सदुपयोग करें। भूलकर भी किसी दूसरेके द्वारा कितना ही सताये गये हों फिर भी कर्कशवचन मुख से न निकलना चाहिए। घरमें जितने कलह हो जाते हैं वे खोटे वचनोंसे कलह होते हैं। एक दूसरेका सम्मान नहीं रख सकने, उससे कलह बढ़ जाती है। जिन घरोंमें पुरुष स्त्रीका और बच्चोंका भी अपने प्रति या बापके प्रति बड़ा सुन्दर व्यवहार रहता है। कर्कश वचन भाषासमितिपालक साधु संतजनोंके स्वप्नमें भी नहीं निकलता है।

परनिन्दावचनकी क्रोधचाण्डालसे भी अधिक चाण्डालता—इसी तरह निन्दनीय वचन है परनिन्दाका वचन। दूसरोंमें दोष हों उन्हें, अथवा न हों उन्हें बताते हुए वचन बोलना इसका नाम है परनिन्दा वचन, दूसरोंकी निन्दा करना बहुत बुरा दोष है। एक टूटीफूटी भाषाका पद्य—है 'मुनीनां क्रोध चाण्डालः पशु चाण्डाल गर्दभः। पक्षीनां काक चांडालः सर्वचांडाल निन्दकः॥' मुनिका चांडाल है क्रोध, अथवा यों कहो कि क्रोधी मुनि चांडाल है, मुनि नहीं। मुनिके जो कषाय पड़ी हुई है वह है चांडाल। क्रोध मुनिके शोभा नहीं देता है। इससे भी गयाबीता निन्दा का वचन है।

निन्दककी पशुचाण्डालसे भी अधिक मलिनता—पशुवोंमें चांडाल है गधा। कुछ इस ओर गधेका छू जाना दोष नहीं माना जाता, पर बुन्देलखण्डमें गधा छू जाय तो लोग नहाते हैं। नहाये बिना वे अपनेको इतना अपवित्र मानते हैं जितना कि विष्टामें पैर भिड़ जाने पर अपवित्र मानते हैं। क्यों गधा चांडाल है? कोई कारण होगा। एक तो गधा घूरे पर बना रहता है, गंदी चीजोंमें भी वह अपना मुख लगाता है, गन्दे स्थानोंमें भी वह लोटता रहता है, और दूसरे बुद्धिहीन है। और गन्दे भार लादनेके काम किया करता है। कुछ भी हो पशुओंमें चांडाल गधेको बताया है। निन्दक पुरुष पशुचाण्डालसे भी अधिक मलिन है।

परनिन्दक की काक चाण्डालसे भी अधिक मलिनता— पक्षियोंमें चाण्डाल कौवेको कहा गया है। कौवा खोटी चीज खाता है— थूक, कफ, विष्टा इन सब दुर्गन्धित, अपवित्र चीजोंमें यह कौवा अपना मुख लगाता है। एक ऐसी किम्वदन्ती है कि कौवा वैकुण्ठमें भगवान्के गांवमें रहता था। सो वह भगवान्की बातें सुन ले और यहां आकर मनुष्योंको बता दे। जिसे चुगली कहते हैं, भगवान्की चुगली मनुष्योसे करदे। जब भगवान् को मालूम पड़ा तो उन्होंने कौवोंको शाप दिया कि जा तेरा मुख गंदी चीजोंमें ही रहा करेगा। अब कौवे बड़े हैरान हो गये। कौवोंने सलाहकी कि अपन मिलकर भगवान्से माफी मांगें। सो वे गये भगवान्से माफी मांगने, बोले—भगवान्! हमारी गलती क्षमा करें, हमें माफी मिल जाय, अबसे कभी आपकी चुगली नहीं करेंगे। सो भगवान्ने कहा अच्छा जावो, १५ दिनकी तुम्हें छूट दी जाती है। वही १५ दिन हैं असौज बदी एकमसे अमावस तकके। जावो तुम्हारा मुख १५ दिन मीठा रहेगा। उन दिनों लोग उन्हें बुला-बुलाकर खिलाते हैं। जिस भगवान्की इसमें चर्चा है वह भगवान् भी कौवोंकी गोष्ठीके होंगे। तो पक्षियोंमें चाण्डाल कौवे को कहा है, निन्दक इससे भी मलिन है।

परनिन्दककी सर्वचाण्डालता— किन्तु भैया! सबमें चाण्डाल है निन्दा करने वाला। अत्यन्त निंद्यनीय हैं परनिन्दक पुरुष। दो चार आदमियोंमें बैठकर दूसरेकी निन्दा करना और मौज मानना, खुश होना, अमुक यों हैं, अमुक यों हैं ये सब परनिन्दाकी ही तो बातें हैं। क्यों करते हैं लोग परनिन्दा? क्या लाभ मिलता है उन्हें? खुदके गुणोंका बिकास तो होता नहीं। जितनी देर दूसरोंकी निन्दामें उपयोग लगाया जाय उतने काल तो इसका उपयोग मलिन रहता, गंदा रहता है। खुदका भी इससे कोई सुधार नहीं होता है, जिनको सुनाते हैं उनका भी कोई सुधार नहीं होता है, बल्कि जो निन्दा सुननेके व्यसनी हैं वे अपना रौद्रध्यान पुष्ट कर रहे हैं, उनका तो और बिगाड़ है और जिसकी निन्दा की जा रही है उसका भी सुधार नहीं है। किसी पुरुषमें कोई ऐब हो और उसको दो आदमियोंके समक्ष खोटे वचनोंसे बोलकर उस ऐबको छुड़ाना चाहे तो नहीं छुड़ा सकता। उल्टा वह और ऐबोंमें आ जायेगा। उसको लोग अकेले में भी डाटकर और निन्दा करके थोड़ा ऐब छुड़ायें तो भी वह नहीं छोड़ सकता।

परदोष छुटानेका उपाय— किसीके ऐब छुड़ानेका एक उपाय है। जिसमें ऐब है उसमें कोई भी गुण कुछ न कुछ है जरूर, सो पहिले उसके

गुणका वर्णन करें, आपमें ऐसी कला है, आपमें ऐसा गुण है, आप ऐसे श्रेष्ठ हैं। गुणोंका वर्णन करने के बाद फिर कहेंगे कि इतनी सी बात यदि और न होती तो आपका बड़ा उत्कर्ष होता। इस शिक्षाको वह ग्रहण कर लेगा। पर निन्दासे न निन्दकका भला, न निन्दा सुनने वालोंका भला और न जिसकी निन्दा की जा रही है उसका भला है। पर निन्दाका वचन भाषासमितिमें सर्वथा निंद्यनीय है। भाषासमितिके प्रकरणमें उन ५ प्रकारके वचनों की चर्चा की जा रही है जिन्हें साधुजन रंच भी उपयोग में नहीं लेते।

पञ्चम हेय वचन— पांचवां दुर्वचन है आत्मप्रशंसाका। अपने में गुण हों तो, न हों तो उनका स्तवन करना, बताना इसको आत्मप्रशंसा कहते हैं। अपने में गुण हों और उन गुणोंके अपने ही मुखसे प्रकट किया जाय तो उन गुणोंमें कमी आ जाती है। फिर वह कला इतनी उत्तम नहीं होती है। जैसे कोई कहे कि तुम मेरा गाना सुनो—मैं बहुत बढ़िया गाऊँगा, ऐसा कहकर गाये तो उसके गानेमें वह कला नहीं आ सकती। और दूसरे लोग उससे बहुत-बहुत कहें—अजी एक गाना तो सुना ही दो, और फिर उसे सुनाना ही पड़े तो उसके संगीतमें आपको कला मिलेगी। अपने आप अपनी प्रशंसा करना यह भाषासमितिमें योग्य नहीं बताया गया है।

भाषासमितिमें हित मित प्रिय वचनका ही स्थान— भैया! इन ५ प्रकारके दुर्वचनोंसे दूर रहो। इसके अतिरिक्त इतनी बातका और ध्यान हो कि भाषासमितिके धारक साधु संतजनोंके वचन हित, मित और प्रिय हों। ये तीन विशेषण उत्तम वचन बोलनेके लिए बताये गये हैं। ऐसे वचन बोले जाव जो दूसरोंका भला करें, हित करें। ऐसे वचन बोले जायें कि जो दूसरोंको प्रिय लगें। हितकारी भी वचन हों और अप्रिय हों तो उस वचनको सुनकर वह हितमें लग ही नहीं सकता। इसलिए वचन प्रिय भी हों, साथ ही अपनी रक्षा करनेके लिए वचनालाप परिमित हो। अधिक बोलने वालेको क्षण-क्षणमें अपने बोल पर पछतावा आता है, क्योंकि अधिक बकवाद करनेसे कोई वचन छोटे भी निकल सकते हैं, हल्के भी हो सकते हैं और न भी हल्के हों, बहुत-बहुत बोलनेके बाद इसे कुछ ऐसा महसूस होगा कि मैं कितना व्यर्थ बकवाद कर गया हूं। इस कारण हितकारी वचन हों, परिमित वचन हों और प्रिय वचन हों। ऐसे इन तीन प्रकारके सद्वचनोंसे सहित भाषासमितिका व्यवहार होता है।

इस प्रकार सभी खोटे वचनोंको त्यागकर ऐसे वचन बोलना चाहिए

जो अपने शुभ और शुद्ध प्रकृतिका कारण हों और दूसरोंके शुभ और शुद्ध प्रकृतिका कारण हों, ऐसे वचनोंका पालना सो भाषासमिति कहलाती है। जिन साधु पुरुषोंने समग्र वस्तुस्वरूप जान लिया है, जो संतपुरुष सर्व प्रकारके पापोंसे दूर हैं, जिनका चित्त अपना हित करनेमें सावधान रहता है ऐसे पुरुष अपने और दूसरेके भला करनेके ही वचन बोला करते हैं।

मनुष्योंके पास अत्यन्त निकट वाला धन और है क्या? चार चीजें बतायी गयी हैं—तन, मन, धन और वचन। इन चारोंमें धन तो बिलकुल अत्यन्त दूरकी चीज है। तन, मन और वचन ये निकटकी चीजें हैं। लेकिन व्यामोहमें धनके पीछे तनका भी दुरुपयोग, मनका दुरुपयोग और वचनका दुरुपयोग किया करते हैं। धन तो अत्यन्त दूरकी चीज है। यह तो तब तक लक्ष्मीकी भांति स्थान रखता है जब तक इसके संतोषधन नहीं आता। जब संतोषधन आ जाता है तो ये सारे ठाठबाट धूलके समान विदित होने लगते हैं। भला बतलावो तो सही कि अचानक कभी गुजर गए तो फिर क्या इसके साथ जायेगा? चला गया यह। दिखता तो है। उसके साथ तो जो संस्कार किया है, जो कर्मबंध हुआ है उसके अनुसार वहां स्वयमेव ही नटखट वातावरण बन जायेगा और वहां सारी नई नई चीजोंका प्रसंग आ जायेगा। यहांका तो उसके साथ कुछ भी न जायेगा। अत्यन्त दूरकी चीज है यह धन वैभव। निकट वाली चीज है तो तन, मन और वचन है। ऐसी दुर्लभतासे ये तन, मन और वचन मिले हैं तो इनका सदुपयोग करनेमें ही हित है।

तन मन वचनका सदुपयोग— तनका सदुपयोग यह है कि दूसरों की सेवा करना, किसी जीवको बाधा न पहुंचाना। यहां तक कि कीड़ा मकौड़ा और सभी प्रकारके प्राणियोंकी रक्षाका यत्न रखना, यह है तनका सदुपयोग। और मनका सदुपयोग है सबका हित सोचना। किसी प्राणी को क्लेश न पहुंचे, यह है मनका सदुपयोग। वचनोंका सदुपयोग यह है कि हित, मित, प्रिय वचन बोले जायें। हम दूसरेके भलेके वचन बोलना चाहते हों और उनकी सेवा शुश्रूषा भी करना चाहते हों, लेकिन अप्रिय वचन बोल दें तो सब कुछ किया हुआ बेकार हो गया। कोई मनुष्य याचक जनों को कुछ दे देवे भोजन वस्त्र कुछ भी, और बुरे शब्द बोलता हुआ देवे तो वह पैसोंसे भी लुटा, यशसे भी लुटा, पापसंचय भी किया। वचन हित, मित, प्रिय होने चाहियें।

अकर्कश वचनमें स्वपरमोदता— जो अपने और परके हितकारी

शुभ और शुद्ध वृत्तिका कारणभूत वचन बोलते हैं वे संतजन क्यों न समताके धारी होंगे। देखिए किसी ने अच्छे वचन बोले तो बोलने वालेको भी शांति रहती है, और जिनको बोला उनको भी शांति रहती है तथा जितने सुनने वाले होंगे उन्हें भी शांति रहती है। कोई अप्रिय वचन बोले- कर्कश वचन बोले, बुरे वचन बोले तो पहिले उसे अपने आपमें ही संक्लेश विकल्प मचाने पड़ेंगे, तब इतनी हिम्मत बनेगी कि मैं दूसरेको खोटे वचन बोल दूं। और फिर वे खोटे वचन जिसे बोले जायेंगे वह भी दुःखी हो जायेगा। ये वचन बाणकी तरह घात किया करते हैं।

मुख धनुष, वचन बाण— खोटे वचन बोलते हुए यह मुख बिल्कुल धनुष जैसा बन जाता है। जब खोटे वचन बोले जाते हैं तब उसके मुखका फोटो ले लो और चढ़े खिंचे धनुषका फोटो ले लो—एकसा आकार हो जायेगा। नीचेका अर्द्धगोल धनुषकी डंडीका और ऊपरका अर्द्धगोल धनुष की डोरीका बन जायेगा। इस तरह डंडी और डोरीका सा यह मुखका आकार बन जाता है और उस खींचे हुए धनुषसे जब वचन बाण निकलता है तो जिसे बोला जाय उसके मर्मको छेद देता है। फिर बादमें लाखों उपाय करें कि वह निकला हुआ बाण वापिस आ जाय, उस भूलमें कितनी ही मिन्नतें की जायें, पर वह बाण वापिस नहीं आ सकता। जैसे धनुषसे निकला हुआ बाण वापिस नहीं आ सकता, इसी प्रकार मुखरूपी धनुषसे निकले हुए वचन वापिस नहीं आ सकते।

वचनबाणकी वापिसीकी कठिनता— कदाचित् वचनबाणकी चोट पहुंचाकर फिर आप उसकी प्रशंसा स्तवन करके भले ही कहें कि मेरे वचन वापिस करदें, भूलसे वचन निकल गए तो कुछ भले ही शांति हो जाय, पर वह शोभाकी बात नहीं रहती है और कोई तो अप्रिय वचन ऐसे होते हैं कि अप्रिय बोलने वाला सैकड़ों बार मिन्नत करे तो भी दिलकी चोट नहीं मिटती हैं। अरे इसने पहिले तो वचनबाणसे ऐसा मार दिया अब वह वापिस कैसे वापिस हो ? वह होता ही नहीं है। मैं भी चाहता हूं कि तुम्हारी बातको मैं भूल जाऊं, पर वह भूला नहीं जा सकता है। ज्ञानका काम तो जानना और स्मरण करना है, वह कैसे भूला जायेगा ? सो वचन बोलनेमें बड़ी सावधानी रहनी चाहिए।

वचनों द्वारा मनुजप्रकृति परिचय — मनुष्यकी पहिचान तो वचनों से ही हुआ करती है। यह भला है या बुरा है—इसकी पहिचान वचनोंसे है। जहां उल्टे सीधा वचन बोले जायें वहां समझो कि इसका चित्त तुच्छ है। बहुत छोटीसी घटना है--राजा, मंत्री और सिपाही वहीं चले जा

रहे थे। रास्ता भूल गए। सबसे पहिले सिपाही आगे निकल गया, उसे मार्गमें एक अंधा पुरुष मिला। उससे पूछा—क्यों बे अन्धे! इधरसे दो आदमी तो नहीं गये हैं? अंधा बोला कि अभी तो नहीं गये हैं। वह आगे बढ़ गया। अंधे ने समझ लिया कि यह कोई छोटा मोटा सिपाही है। बाद में उसी रास्तेसे मंत्री निकला पूछा—क्यों सूरदास, इस रास्ते से दो आदमी तो अभी नहीं गये? तो वह अंधा बोला कि अभी एक सिपाही आगे निकल गया है। अंधे ने सोच लिया कि यह कोई मंत्री होगा। वह मंत्री भी आगे बढ़ गया। बादमें राजा उसी मार्गसे निकला—अंधेसे पूछा कहो सूरदास जी इस मार्गसे कोई दो आदमी तो नहीं गये? अंधे ने समझा कि यह कोई राजा है, सो कहा, हां राजन् पहिले एक सिपाही निकल गया, उसके बादमें एक मंत्री निकल गया है। अब राजा भी आगे बढ़ गया।

वचनों द्वारा मनुजप्रकृतिपरिचयका विवरण— बादमें आगे चलकर जब तीनों मिल गये तो उस अंधेका किस्सा सुनाया। सबने सोचा कि उस अंधे ने कैसे जान लिया है कि यह सिपाही है, यह मंत्री है और यह राजा है, चलो इस बातको चलकर पूछें। तीनों ही उस अंधके पास आये। पूछने पर अंधे ने बताया कि राजन्! मैंने वचनोंसे पहिचाना था कि यह अमुक है, यह अमुक है। जिसने अबे अंधे कहा उसको मैंने समझ लिया कि यह कोई छोटा ही आदमी सिपाही वगैरह होगा और जिसने क्यों सूरदास कहकर पूछा था, उसे मैंने समझ लिया कि यह कोई राजाके निकटका व्यक्ति मंत्री वगैरह होगा और जिसने अंतमें कहा, सूरदासजी कह कर पूछा था, उसे मैंने समझ लिया था कि यह कोई राजा होगा।

भाषासमितिके वचनोंकी शीतलता— तो भैया! वचनोंसे मनुष्यके भले और बुरेपनकी पहिचान होती है। वचन ऐसे बोलने चाहियें जिनसे अपना भी हित हो और दूसरोंका भी हित हो। हित, मित और प्रियवचन बोलनेको भाषासमिति कहते हैं। भाषासमितिके पालक साधुके वचनोंकी शीतलता जिस संतापको मिटा देती है उस संतापको चंदन आदिकी शीतलता मिटानेमें समर्थ नहीं है।

वचनगुप्तिके यत्नशील संतोंकी भाषासमिति— जो साधुजन परम ब्रह्म शाश्वत चित्स्वरूपमें निरत रहा करते हैं ऐसे उन ज्ञानीजनोंको अन्य जल्पोंसे भी प्रयोजन नहीं रहता, फिर बहिर्जल्पकी बात ही क्या है? मुनिजनोंका वचनके प्रसंगमें सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य वचनगुप्तिका है। वे किसी भी प्रकारका अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प न करके परमब्रह्मके अवलोकनमें ही

निरत रहते हैं, यह उनका मुख्य लक्ष्य है। ऐसे प्रयत्नशील संज्जन अन्त-र्जल्पको भी संयत करनेका यत्न करते हैं, फिर बहिर्जल्पकी तो कहानी ही क्या है? उससे तो दूर ही रहना चाहते हैं, फिर भी स्वपर हितके प्रयोजन से कुछ बोलना पड़े तो भी साधु पुरुष हित, मित, प्रिय वचन बोलते हैं— ऐसे वचनोंको कहा जाय जो स्वपर-हितकारी हों, दूसरोंके सुननेमें प्रिय हों और परिमित हों, ऐसे वचन बोलनेको भाषासमिति कहते हैं। यहां तक भाषा समितिका वर्णन करके एषणासमितिका वर्णन अब प्रारम्भ किया जाता है।

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥६३॥

साधुवोंके आहारकी निरपेक्षता— दूसरेके द्वारा दिये गए और कृतकारित अनुमोदनासे रहित प्रासुक और प्रमाद आदिक दोषोंको न करने वाले ऐसे वचन ग्रहण करना सो एषणासमिति कहलाती है। एषणा का अर्थ है खोज। अपने आहारकी खोज करना, इसका नाम एषणासमिति है और विधिपूर्वक साधनानुकूल शुद्ध आहारकी खोज करना सो एषणा-समिति है। मुनिजन स्वयं आरम्भ नहीं करते हैं, इसके दो कारण हैं— एक तो भोजनमें इतनी आसक्ति नहीं है कि उस भोजनकी व्यवस्थाके लिए स्वयं कोई यत्न करें। जैसे जिस रोगीको अपना रोग मिटानेके विषय में ख्याल नहीं है तो उसका इतना यत्न न होगा कि अपनी औषधिका फिक्र रक्खे, स्वयं बनाए और श्रम करे। उसे तो दूसरे ही बनाते खिलाते हैं तब खाते हैं। यों ही ज्ञानीसंत जिनको अपने आत्महितकी धुनि लगी हुई है ऐसे पुरुषको अपने आहार आदिककी इतनी धुन नहीं है, आसक्ति नहीं है कि वह स्वयं आहारका आरम्भ करे। तब फिर चूंकि शरीरकी स्थिति आहार बिना नहीं रहती है सो ऐसी स्थितिमें शुद्ध प्रासुक विधिवत् आहार करना, इसे एषणासमिति कहते हैं। साधु दूसरोंके द्वारा भक्ति-पूर्वक दिए गए आहारको ग्रहण किया करते हैं।

नवकोटिविशुद्ध आहार— आहारकी ऐसी एषणामें कारणभूत दूसरी बात यह है कि आहारविषयक आरम्भ करने पर उसमें हिंसाका भी दोष होता है। और वह मुनि ६ कायोंकी हिंसासे सर्वथा दूर है, इस कारण भी आहारविषयक आरम्भ वे नहीं करते हैं तब वे दूसरोंके द्वारा भक्ति-पूर्वक दिये गये आहारोंको ही ग्रहण करते हैं। वे आहार स्वयं नहीं बनाते हैं और न दूसरोंसे कहकर बनवाते हैं और न उसमें वे अनुमोदना करते हैं कि अमुक-अमुक तरहसे भोजन बनावो। ऐसी कृतकारित अनुमोदनासे

हित और मनके संकल्पोंसे रहित वे साधु जन होते हैं। इस प्रकारका आहार बनाएं ऐसा मनसे भी संकल्प नहीं रखते, वचनसे भी सम्बन्ध नहीं रखते और शरीरका तो सम्बन्ध ही क्या है? यों नवकोटिसे विशुद्ध आहारको साधुजन ग्रहण करते हैं। वह आहार प्रासुक होना चाहिए, जीव जंतुके संसर्गसे रहित होना चाहिए, त्रस आदिक जीवोंकी हिंसासे रहित आहार हो, ऐसा प्रासुक आहार ही साधुजन ग्रहण करते हैं और साथ ही प्रशस्त आहार हो जो प्रमाद न बढ़ाये, जो परिणामोंमें कलुषता उत्पन्न न करे, ऐसा शुद्ध आहार साधु पुरुष लिया करते हैं।

नवधाभक्तिकी अनिवार्यता— शुद्ध प्रासुक आहारको भी साधु नवधाभक्ति देख करके लेते हैं। साधु देख लेते हैं कि श्रावकमें उचित भक्ति है या नहीं और जैसी विधि हो उसी विधिसे पड़गाहा है कि नहीं और शुद्ध विधि भी इसकी उसही प्रकार है कि नहीं, इन सभी बातोंको साधुजन देखते हैं। यदि ये सब बातें ठीक ठीक हैं तो वे आहार ग्रहण करते हैं। यहां कोई लोग यह शंका कर सकते हैं कि साधुजन तो सन्मानमें अपमान में समान बुद्धि रखते हैं तो आहारके समय इतना क्यों निरीक्षण रखते हैं? इसकी भक्ति यथार्थ है, इसकी यथार्थ भक्ति नहीं है, ऐसा निरीक्षण वे क्यों करते हैं? समाधान उसका यह है कि साधुवोंके पास यह जाननेका और कोई उपाय नहीं है कि इसके यहां आहार शुद्ध और विधिपूर्वक बना है या नहीं। वे किसीसे पूछते तो हैं नहीं, मौनसे उनकी चर्या होती है। संकेत और इशारा भी नहीं करते हैं। सो साधुजन क्या उपाय कर सकें जिससे यह पहिचान जायें कि इसके यहां भोजन शुद्ध प्रासुक और विधि सहित बना हुआ है, इस बातके पहिचाननेका उपाय साधुजनोंको नवधा-भक्तिको उचित देख लेना ही रह गया है। वे नवधाभक्तिको देखकर यह जान जाते हैं कि यह आहारविधिसे परिचित पुरुष है, इसने विधिपूर्वक आहार प्रासुक बनाया है, फिर वे ग्रहण करते हैं।

साधुवोंकी आहारमें अनासक्ति— साधुजन अंतराय टाल कर आहार ग्रहण करते हैं। साधुवोंका आहारग्रहण निरपेक्षतापूर्वक होता है। जैसे जंगलमें हिरण घास खाते हैं तो उनको घास खानेमें अधिक आसक्ति नहीं होती है। जैसे बिलावमें चूहे खानेकी इतनी आसक्ति है कि उसे डंडे भी मारो तो भी चूहेको छोड़ नहीं सकती। पशुवोंमें सबसे अधिक आसक्ति बिलावमें है और सबसे कम आसक्ति हिरणोंमें है। वे जंगलमें घास खा रहे होंगे और थोड़ी भी आहट आये तो तुरन्त सावधान हो जाते हैं। कभी देखा होगा तो समझ गये होंगे कि हिरण अपने भोजन

में अनासक्त रहते हैं। यह तो एक उदाहरणकी बात कही है। साधुजन अपने आहारमें इतने अनासक्त होते हैं कि कोई थोड़ा व घ' आ जाय, जो दोष करने वाली हो, मनमें ग्लानि करे अथवा बाहरमें हिंसा हो, इस प्रकारका कोई भी अन्तराय आये तो वे आहार छोड़ देते हैं।

आहारमें मुख्यदोष— आहारमें मुख्य दोष चार बताये गए हैं, और उनसे भी मुख्य दोष एक अधःकर्म है। अधःकर्म क्रियासे निर्मित भोजन अत्यन्त सदोष भोजन है याने जो अमावधानीसे बनाया गया हो, अनछने जलसे तैयार किया गया हो, चीजों को समेटकर सारी क्रिया की जा रही हो, मर्यादासे अधिक आटा सामग्री हो, उससे बनाया गया भोजन, कई दिनका पड़ा हुआ भोजन अथवा रात्रिके समयका बनाया हुआ भोजन ये सब अधःकर्म दोपसे दूषित हैं। साधुजन अधःकर्म निर्मित आहार को ग्रहण नहीं करते हैं। आजकलमें चर्चाके लिये अधिक प्रचलित एक दोष बताया है उद्दिष्ट दोष, किन्तु अधःकर्म दोष तो मुख्य दोष है। कोई साधु उद्दिष्ट दोषका तो बड़ा ध्यान रखे और अधःकर्म दोषका कुछ भी न ख्याल रक्खे तो यह उसकी विपरीत बुद्धि है। ऐसा भोजन तो खूब जगह-जगह मिल जाता है। कोई बना रहा हो, किसी भी जातिका हो, सब जगह भोजन तैयार रहता है वह सब अनुद्दिष्ट भोजन है। वह साधुको आहार करानेकी दृष्टिसे नहीं बनाया गया है। तो क्या वह आहार निर्दोष है? और उद्दिष्ट का बाबा अधःकर्म दोष उसमें पड़ा हुआ है।

आहारके चार महादोष— अधःकर्मके अतिरिक्त चार महादोष ये हैं— (१) अङ्गार, (२) धूम, (३) संयोजना, (४) अतिमात्र। किसी वस्तु की मनमें निन्दा करते हुए, ग्लानि करते हुए भोजन करना। इसने बड़ा रूखा भोजन बनाया, यह बड़ी कंजूसीसे परस रहा है अथवा किसी भी प्रकारके दातारकी निन्दा मनमें करते हुए भोजन करते जाना यह धूमनामक महादोष है। अंगार दोष— यह वस्तु स्वादिष्ट है और मिले, ऐसी अत्यासक्तिपूर्वक भोजन करते जाना सो अंगार दोष है। गरम ठंडा आदि परस्परविरुद्ध पदार्थोंको मिलाकर खाना संयोजना दोष है। शास्त्रोक्त भोजनके परिमाणसे आधिक अधिक भोजन करना, सो अतिमात्र नामक दोष है। सब महादोषोंसे रहित शुद्ध प्रासुक आहारको साधुजन ग्रहण करते हैं।

आहारमें अनाहारस्वभावी आत्माका स्मरण— आहार करते हुए में साधुके बार-बार यह स्मरण चलता रहता है कि मेरा आत्मा तो आहार से रहित शुद्ध ज्ञानमात्र प्रभु है। इसमें तो आहार है ही नहीं। आहार तो

एक दोष है। आहार करते हुए भी अनाहारस्वभावी अपने आत्माका ध्यान करते जाते हैं और यह भी स्मरण रखते हैं कि मेरा विकास है अरहंत और सिद्धकी अवस्था। इसका जो उद्यम है वह अरहंत और सिद्ध अवस्था पानेके लिए उद्यम है। जो दशा अनन्तकाल तक बिना आहारके शुद्ध आनन्दमय रहा करती है उस स्थितिके पानेमें मेरा यत्न हो, कहां यहां इस आहारके झंझटमें पड़ा हुआ हूं, ऐसा उनके आहार करते हुएमें खेद बनता है। कोई लोग तो आहार करके मोज मानते हैं, बहुत शुद्ध, बहुत रसीला भोजन बना और साधुजन भोजन करते हुए खेद कर रहे हैं कि अनाहारस्वभावी इस मुझ आत्माको जो प्रभुवत् निर्मल है, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। यहां कहां आहार जैसे झंझटमें लगा रहा हूं? आहार प्रक्रियामें भी खेद मानते हैं, मौज नहीं मानते हैं।

आहार लेनेकी विवशता— भैया! साधु आहारसे निरपेक्ष होते हैं, उन्हें आहार करना पड़ता है। शरीर लगा हुआ है, इसमें क्षुधाकी वेदना पड़ी हुई है, उस वेदनाको दूर कर ध्यानमें लगा करते हैं। और वेदना ही क्या, वेदनाका तो इसमें कुछ प्रवेश ही नहीं है, कितनी ही वेदनाएं हों किन्तु ये वेदनाए बढ़कर प्राणघात कर देती हैं। ये प्राण भी द्रव्यप्राण हैं ना, परवस्तु हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं; किन्तु अचानक ही मेरे सावधान हुए बिना, मेरी अंतरङ्गमें पूरी प्रतिष्ठा हुए बिना अर्थात् ज्ञानानुभूतिमें स्थिर हुए बिना यदि यह जीवन बीचमें ही बुझ गया तो आगे क्या हाल होगा? अन्य देह होना पड़ेगा। ओह जब साधुको यह झनक आती है कि मुझे मरकर देव बनना पड़ेगा तो इसका भी विषाद उनके होता है।

अज्ञानियोंकी देवगतिमें रुचि— अज्ञानी जन तो देव होने के लिए तरसते हैं। भाई यह पुण्य काहेको कर रहे हो? अरे पुण्य करेंगे तो देव बनेंगे, भोग मिलेंगें, एकसे एक सुन्दर देवांगनायें मिलेंगी। छोटेसे भी छोटे, खोटेसे भी खोटा देव हो तो भी उसकी कमसे कम ३२ देवांगनाएं होती हैं, और बड़े देव हुए तो वहां तो सैकड़ां और हजारों देवांगनाएँ हो जायेंगी। वहां चिंता क्या है, यहां खेती नहीं करना है, रोजिगार नहीं करना है। वहां देवोंको और देवियोंको सैकड़ों हजारों वर्षमें भूख लगती है, तो उनके कंठसे कोई अमृतसा झड़ जाता है। होगा कोई एक खासा थूक जैसे अपने कंठसे कभी हर्षोत्पादक थूक गलेमें उतर जाता है, ऐसे ही उनके कंठसे कुछ और कल्पित अमृतसा झड़ जाता है। हित नहीं है वह। लोभ कषाय देवोंमें इतनी प्रबल हैं जितनी मनुष्योंमें प्रबल नहीं हैं। लोग समझते हैं कि लोगोंको लोभ कषाय बहुत तेज लग रही है। अरे लोगोंका

लोभ कषाय तेज नहीं है, मान कषाय तेज है, वह धनका संचय भी मान कषायको पुष्ट करने के लिए किया करता है।

साधुवोंकी देवगतिमें अरुचि— जब साधुजनोंको यह झलक आती है कि ओह मरकर देव होना पड़ेगा, सम्यग्दर्शन होने पर मनुष्यको देव आयुका बंध होता है, अन्य आयुका बंध नहीं होता है। अरे धर्मकार्योंमें तो लगे हुए हैं और रत्नत्रयकी साधना उत्कृष्ट बन नहीं पायी है, ऐसी स्थितिमें मरण होगा तो देव ही तो बनना पड़ेगा। अहो यहां तो बड़ा आनन्द लूट रहे हैं ब्रह्मस्वरूपके अनुभवका, ज्ञानानन्दका और वहां जाकर उन देवियोंमें रमना पड़ेगा, उनका चित्त प्रसन्न रखते रहना पड़ेगा और विषयोंमें फंसना होगा। यहां तो ब्रह्मचर्यकी परमसाधना कर रहा हूं और अन्तरमें यह भावना रखता हूं कि हे प्रभु! अब जब तक मुक्ति नहीं होती मेरी, तब तक मेरा ब्रह्मचर्य रहो। शेपके भव-भवमें ऐसी भावना भायी है और इस मुझको वहां ब्रह्मचर्यका घात करनेमें, देवियोंको प्रसन्न करनेमें उलझना पड़ेगा। मुझे इस बातका खेद होता है।

देवगतिकी पर्यायमें भी ज्ञानियोंका ज्ञान— हमारे ये ऋषी संतजन कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, अकलंक आदि आदि सभी आचार्य जो कि ज्ञान और वैराग्यसे परिपूर्ण थे, जिन्होंने देवगतिको हेय माना था और भोग विषयोंको बड़ा निंद्य बताकर दुनियामें प्रसिद्ध किया था। जिनके स्वप्नमें भी भोग और उपभोगकी वासना न थी, उन आचार्योंकी आत्मा अब यहां नहीं है, उनका देहांत हो गया है। भला कल्पना तो करो कि वे आचार्यगण मरकर कहां उत्पन्न हुए होंगे? आपकी कल्पनामें आ रहा होगा कि वे देव ही हुए होंगे। अब देव बनकर क्या कर रहे होंगे? आह सभा जुड़ी होगी, नाच गान हो रहा होगा, देवांगनाएँ नृत्य कर रही होंगी और अपना मन बहलानेके लिए द्वीप द्वीपान्तरोंमें यत्र तत्र विहार कर रहे होंगे और वे भी भोगोपभोगमें रमे होंगे। क्या करें, उन्हें करना पड़ रहा होगा, लेकिन सम्यग्ज्ञान वहां भी जागृत है तो उस भोगोपभोग की स्थिति में भी वे विरक्त होंगे और अपने इस शुद्ध चित्स्वरूप परमब्रह्मकी ओर ही उनका लक्ष्य होगा।

प्रतिग्रहरूपमें भक्तोंके आग्रहका रूप— खैर, साधुजन इतने निष्पृह होते हैं कि उनके आहारकी रुचि नहीं है फिर भी करना पड़ता है। भला बतलावो जिसको रुचि न हो, जिसे आसक्ति न हो उसे कोई बहुत मना-कर खिलाये तब ही पेटमें भोजन पहुंच सकता है। जिस बालकको खाने में रुचि नहीं है, खेल ही खेलमें भागता फिरता है उस बालकको मां बहुत

मना कर खिलाती है तब एक दो कौर खा पाता है, और थोड़ा ही पेटमें कुछ पहुंचे तो झट हाथ धोकर भाग जाता है। यों ही साधु संतोंको आहार करनेमें आसक्ति नहीं है। इस कारण इन साधुवोंके उपासक श्रावक जन मना-मनाकर बड़ी भक्ति करके, बड़ा सत्कार करके उन्हें खिलाते हैं तब जाकर साधुवोंके पेटमें कुछ भोजन पहुंचता है, किन्तु थोड़ी ही उदरकी पूर्ति हुई कि झट हाथ धोकर अपनी आहारक्रिया समाप्त करके शीघ्र ध्यान के अर्थ, अपने आत्मशोधकके अर्थ चले जाया करते हैं। उन साधुवोंके एषणासमिति होती है।

आहारकी नवकोटि विशुद्धता— टीकाकार पद्मप्रभु मलधारी मुनि साधु संतोंका आहार कैसा होना चाहिए—इस सम्बन्धमें कह रहे हैं कि पहिले तो नवकोटिसे विशुद्ध होना चाहिए। यह साधुके हाथकी बात है। न करें न करायें, न अनुमोदें न मनसे संकल्प करें, न वचनसे कहें, न शरीर से श्रम करें तो वह नवकोटि विशुद्ध आहार हो जाता है।

आहारकी प्रशस्तता— दूसरी बात, वह अति प्रशस्त होना चाहिए। इसका अर्थ देते हैं कि मनको हरने वाला भोजन होना चाहिए। काला कलूटा बुरे रंगका न होना चाहिए। यद्यपि साधुसंत सबमें समता रखते हैं मगर करें क्या, जिनको आहार करनेकी रुचि नहीं है और जबरदस्ती मनाकर खिला रहे हैं उन्हें तो थोड़ा भी मैलाकुचैला दिखेगा तो जान जायेंगे कि इस श्रावकमें कोई कला ही नहीं है। कलारहित होगा बनाने वाला, और जो कलाहीन होगा बनाने वाला उससे शुद्ध भोजनका निर्बाध निर्माण भी कठिन होता है। कितनी ही बातें उससे ज्ञात हो जाती हैं, इसलिए भोजन रूप रंगका भी सुन्दर मनको हरने वाला होना चाहिए। क्यों ऐसा होना चाहिए ? उन्हें जबरदस्ती श्रावक खिला रहा है, रुचि नहीं है, सो भक्ति करके जैसे भी उनका मन रम जाय थोड़ा बहुत वैसा यत्न करके आहार कराया जा रहा है। तो आचार्यदेव कहते हैं कि वह भोजन मनको हरण करने वाला होना चाहिए।

प्रासुक आहारकी आहार्यता— आहार प्रासुक भी हो। पत्तियोंमें कोई कीड़े चढ़ जाते हैं या और कोई छोटे-छोटे जंतु रहते हैं तो उन्हें न खाना चाहिए। एक साग होता है गोभी, उसे कहते हैं गोभी फूल। कैसा लगता होगा ? मीठा है क्या है, हमें पता नहीं, उसमें जीव बहुत भरे रहते हैं। उसे कांसेकी थालमें झाड़ दो तो आपको वे सारे जंतु दिख जायेंगे। एक क्षणिक सेकेण्ड भरकी जिह्वाके स्वादके पीछे हिंसामय भोजन करना और जीवोंके विनाशका कारण बनना यह तो योग्य नहीं है। और

जब सारा ही भोजन छूट जायेगा अरहंत बनने पर तो अभक्ष्य पदार्थमें तो रुचि अभीसे छूट जाना चाहिये।

अरहंत होनेके प्रोग्रामकी धुन— सोच लो आपको अरहंत बनना है कि नहीं, भीतरसे जरा जवाब तो दो कि ऐसे ही लटोरे घसीटे रहना है संसारमें? कुछ अन्दरसे बात तो निकले। हां हो सकता है कि अरहंत के इतने विशाल वैभवको सुनकर उत्तर दे सको कि हां, बड़ा समवशरण है, हजारों पुरुष उनकी सेवामें प्रणाम, वंदन करने आते हैं, इतना ध्यान देकर शायद कि हां होना है, अब जरा ध्यानसे सुनिये अरहंत अवस्था इतनी विशुद्ध अवस्था है कि जहां कोई दोष नहीं है, कोई संकट नहीं है। जन्ममरण भी जहां नहीं रहता है, ऐसी अवस्था चाहिए ना? हां चाहिए। उस अवस्थामें सदाके लिए आहार छूट जायेगा, वहां बाधा ही कुछ न होगी। वहां अनन्तबल रहा करता है। तो सदा आहार न किया जायेगा, ऐसी स्थितिकी तो धुनि बनायी है और वर्तमानमें भक्ष्य अभक्ष्यका भी विवेक न करें यह अपने लिए कितने खेदकी बात है।

गृहस्थोंका अनिवार्य संयम— भैया! कमसे कम इतनी बात तो जगना ही चाहिए प्रत्येक गृहस्थमें कि जैसे गोभी फूल है, सड़ी बासी पूड़ी हैं, बाजारकी चीजें हैं, दही, जलेबी आदि हैं ऐसी चीजोंका भक्षण तो न करें और रात्रिमें बनी हुई चीजोंका क्या विश्वास? वे तो जीवघातमय हैं। रात्रिको न कुछ खायें न बनायें। इन दो चार बातोंका ही इन साधुवों की एषणासमितिका वर्णन सुनकर नियम करलें, उस विधिसे चलें तो यह हम आपके लिए भलेकी बात है।

आहार विहारका प्रयोजन— जैसे सरसोंके तेल वाले दियेमें दो काम किए जाते हैं— तेल भरा जाता है और बाती उसकेरी जाती है, सभी जानते हैं। सरसोंके तेलका दिया जलायें तो उसमें बीच-बीचमें बातीमें तेल चढ़ता है और जब तेल सूख जाता है, कम हो जाता है तो उसमें तेल डालना पड़ता है। तो बातीका उसकेरना किसलिए किया जाता है कि यथावत् प्रकाश बना रहे और तेल डालना किसलिए किया जाता है कि उसमें यथावत् प्रकाश बना रहे, ऐसे ही प्रकाशपुञ्ज साधुपुरुषमें बाती उस-केरनेकी तरह पैरोंके उकसेरनेकी जरूरत पड़ती है अर्थात् विहार करनेकी आवश्यकता होती है और तेल डालनेकी अर्थात् पेटमें भोजन डालनेकी आवश्यकता होती है। यह आहार और विहार साधुजन इसलिए किया करते हैं कि यथावत् शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र बने रहें।

योग्य आहार विहारके अभावमें आपत्ति— भैया! लोग कहते भी

हैं, रमता जोगी बहता पानी। साधुजन स्वच्छ रहा करते हैं। साधुजन यदि विहार न करें, एक ही स्थान पर वर्षों बने रहें तो उनके परिणाममें रागद्वेपकी कोई बात आती रहेगी, इसलिए यथावत् मोक्षमार्गमें लगें, ज्ञानप्रकाश बना रहे, इसके लिए साधुजन विहार करते हैं, और शरीरमें क्षुधाकी वेदना होती है उसका प्रतिकार न करें। जैसे दियामें तेल न डालें तो प्रकाश बंद हो जायेगा, यों ही उदरमें भोजन पानी न डालें तो आत्म-साधना भी दुर्गम हो जायेगी, इसके लिए वे आहार करते हैं। आहार करते हुएमें उनकी यह वृत्ति रहती है कि पेटका गड्ढा भर लिया, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि शुद्ध अशुद्ध भक्ष्य-अभक्ष्य किस ही प्रकारके भोजनसे उदरपूर्ति करें, हां स्वाद लेकर नहीं, मौज मानकर नहीं, किन्तु उदरपूर्ति करना है इस प्रकारसे आहार करें।

साधुकी भिक्षा पद्धति— साधुकी चर्या वृत्तिको तीन प्रकारसे पुकारा गया है—गर्तपूरण वृत्ति, गोचरी वृत्ति, और भ्रामरी वृत्ति। गर्तपूरण वृत्ति का भाव यह है कि उदर एक गड्ढा है, उसको पूर लेना। यह पकवान है, यह सरसभोजन है, यों न देखना, अपने गर्तको, नीरस, सरस कैसा ही आहार हो, उसका विकल्प न करके पूर्ण कर लेना गर्तपूरणवृत्ति है। गोचरीवृत्तिका अर्थ यह है कि जैसे गऊ घास खाती है, उसको घास डालने के लिए चाहे कोई नई वहू बड़े गहने पहिनकर आए, कोई बड़े शोभा शृङ्गारसे आये या कोई बुढ़िया आए, या कोई पुरुष आये, बूढ़ा आये, या बालक आये उसे इनसे मतलब नहीं है, इनका रूप वह नहीं देखती है। उसे तो घास खाने से मतलब! इसी प्रकार साधु जनोंको चाहे कोई रूप-वती स्त्री आहार दे, चाहे वृद्धावस्थाकी स्त्री आहार दे, चाहे बूढ़ा पुरुष दे, चाहे बालक आहार दे, किसी भी प्रकारके रूपकी ओर साधुपुरुषकी दृष्टि नहीं होती है। उन्हें तो मात्र अपनी उदरपूर्तिसे प्रयोजन है। भ्रामरीवृत्ति वाले भ्रमरकी तरह आहारकी खोज करके किसी भी जगह आहार लेने आते हैं। जिसमें बाधा न आए वह भ्रामरीवृत्ति है।

साधुका ४६ दोपरहित आहार— ये संतजन यद्यपि गर्तपूरणके लिए आहार करते हैं, किन्तु भक्ष्य अभक्ष्यका वे विवेक रखकर करते हैं। ४६ दोप टालकर साधुजन आहार करते हैं। वे ४६ दोप कौन हैं? ४ तो हैं महादोप, जो पहिले बता दिये थे और ४२ दोष ये हैं। १६ उद्गम दोष हैं जो श्रावकके किए लगा करते हैं, साधुजन उन दोषोंको नहीं करते हैं श्रावक करते हैं, किन्तु साधुको मालूम हो जाय तो साधु फिर आहार नहीं लेता। १६ उत्पादन दोष हैं इन्हें पात्र करता है, श्रावक नहीं और १० अनशन

सम्बन्धी दोष हैं इस प्रकार ये ४६ दोष हैं।

आहारका उद्दिष्ट और साधिक दोष— उदाहरणके लिए देखिये- (१) केवल साधुके लिए ही आहार बनाया गया हो, आधपाव तीन छटांककी रोटियां बनाकर और थोड़ा साग वगैरह एक आदमीके लिए बना कर धरदे और कहे कि हमें तो अमुक साधुको भोजन कराना है, लो प्रबंध कर लिया फिर घर भरका भोजन अशुद्ध बने, अन्य स्थानपर बने तो ऐसा आहार साधु नहीं लेता है। साधु अगर जान जाय कि यही आहार घरभर करेगा तो वह आहारको लेता है। (२) भोजन बनाया जा रहा है और बीचमें ही ख्याल आ जाय कि हमें साधुको भी आहार कराना है ऐसा बनाते हुएमें थोड़ी खिचड़ी उसीमें और डाल दो साधुके नाम पर और पका ली तो ऐसा आहार साधु योग्य नहीं है। ऐसा दोष साधु नहीं करता है, गृहस्थ किया करता है।

आहारका पूति, मिश्र व प्राभृत दोष— (३) प्रासुक वस्तुमें अप्रासुक वस्तु मिला देना, यह भी साधुके आहारमें दोष है। (४) ऐसा ख्याल करके आहार बनाएँ कि हमें तो सभीको आहार देना है, पाखण्डी भी आ जाय तो, कुभेषी भी आ जाय तो, साधु आ जाय तो, सबको यही आहार बनावेंगे तो ऐसा भोजन साधुके लिए योग्य नहीं होता है। (५) श्रावकजन ऐसा भी नियम कर सकते हैं कि मैं अमुक दिन शुद्ध खाऊंगा व साधुको आहार कराऊँगा योग मिलेगा तो। ऐसा श्रावक पहिले नियम लिया करते थे, और इस नियमसे बहुत सुन्दर व्यवस्था रहती थी। सभी लोग अपने अपने घरोंमें साधुको आहार करा लेते थे। उससे साधुजनोंको भी कोई परेशानी न होती थी। अब मान लो किसी ने चतुर्थी को आहार करानेका नियम लिया और वह बदल कर दोज को करले या एक दो दिन बादमें करले तो यहां भी एक दोष आता है। क्योंकि कुछ भी बात बदलने से कुछ आकुलन और परिणामोंमें संक्लेश होता है।

आहारका बलि, न्यस्त व प्रादुष्कृत दोष— (६) कोई किसी देवता को चढ़ाने के लिए आहार बना रहा है और उस आहारको साधुजनोंको भी दे तो वह योग्य आहार नहीं है। (७) जिस बर्तनमें भोजन बनाया है उस बर्तनमें थोड़ा थोड़ा सामान निकाल अलग रख लिया और बाकी [illegible] दिया तो ऐसा आहार भी साधुके लिए योग्य नहीं है। आजकल [illegible] प्रथासी दिख रही है। (८) साधुजन चौके में आयें और वहां ही [illegible] विशेष स्थान तैयार करवाया जाय, चौके [illegible], जाय, ले जांय या कहीं किवाड़

खोल दिया, कहींकी राख कहीं छोड़ दिया, या बर्तन साफ कर लिया, या उस समय कुछ और भी आरम्भ किया जाय तो ऐसी स्थितिमें साधुजन आहार नहीं लेते हैं।

क्रीत, प्रामित्य व परिवर्तित दोष— (९) आगया साधु आहार करने और उसी समय अमुक चीज नहीं है, चुपके से दूसरे से कहा कि और ले आवो इसी समय जाकर—ले आया दौड़कर कहींसे कोई सामान तो ऐसा आहार साधुके योग्य नहीं है। (१०) कोई मनुष्य उधार लेकर भोजन बनाए, ब्याजपर उधार लेकर या किसी प्रकारसे उधार लेकर और फिर उससे आहार बनाकर खिलाए तो वह आहार साधुजनोंके योग्य नहीं है (११) भिक्षाके लिए साधु आजाय और उस समय कोई चीज पड़ौससे बदल लावे कि यह चीज तुम ले लो और इसके एवजमें एक छटांक घी हमें दे दो ऐसा अदला बदलीसे तैयार किया गया आहार भी साधुके लिए योग्य नहीं है।

आहारका निषिद्ध व अभिहृत दोष— (१२) आहार देते समय कोई किसी चीजको मना करदे तो मना किए गये आहारको फिर लेनेकी इजाजत साधुको नहीं है। जैसे बैठे हैं बहुतसे लोग कोई किसी चीजको दे रहा हो और कोई-कोई कहे यह नहीं, यह दो तो वह साधु किसी चीज को ले अथवा न ले, पर किसीके द्वारा निषेध किया गया आहार फिर साधु नहीं लेता है। (१३) ऐसे ही अटपट अलग बाहरके मुहल्लेमें बना हुआ भोजन किसी दूसरे मुहल्लेमें ले जाय तो ऐसे आहारको भी साधुजन नहीं लेते हैं।

उद्भिन्न दोष— (१४) साधुके ही आने पर किसी सीलबंद डिब्बे वगैरहको खोला जाय और उसमें से निकालकर चीज दी जाय तो वह आहार भी साधुजन नहीं लेते हैं। आप सोचिए—कितना सरल और सात्त्विक विधान है आहार लेनेका किन्तु लोग व्यर्थ ही परेशान होते हैं, घंटा भर पहिलेसे ही चूल्हा बुझा दिया और उसको ऐसा साफ कर दिया कि खाने वाला यह सोचकर हैरान हो जाय कि यह आहार देवताओंने आकर टपकाया है या इसने अपने घरमें बनाया है। और घंटों पहिले से चूल्हा बुझाकर पड़गाहने के लिए खड़े हैं। अरे पड़गाहना तो उस समय है जिस समय आपको भोजन करना है—इससे पहिले देखलो। इससे पहिले यदि कोई साधु आता होगा तो वह अपने आप ही आंगन तक चला जायेगा, न भी आप खड़े हों। हां कोई ऐसा चिह्न लगा हो चौकेका जिससे यह जान जाय साधु कि यह शुद्ध भोजन करने वाले श्रावकका घर है।

वह साधु आंगन तक पहुंच सकता है।

आच्छेद्य व मालारोहण दोष— (१५) कोई पुरुष बड़े आदमीके, राजा मंत्री आदिके नाराज होनेके भयसे साधुको आहार कराये तो वह आहार सदोष है। साधुको मालूम हो जाय तो साधु वह आहार नहीं लेता। (१६) कोई मनुष्य अटारी पर चढ़कर आहार देनेकी चीज लाकर देवे तो साधु आहार नहीं लेता है क्योंकि इस तरह आहार लेने लगें और श्रावकोंमें आदत बन जाय तो सीढ़ीमें पैर फिसलकर गिर जाय तो श्रावककी क्या दशा हो? वैसे भी साधुके भोजनके समय श्रावकके कुछ न कुछ घबड़ाहट रहा करती है और सीढ़ीसे नीचे उतरनेमें कहीं गिर जाय तो ऐसी स्थितिमें तो विडम्बना कहीं हो सकती है। साधुजन बिल्कुल सात्त्विक ढंगसे, सीधे ढंगसे आहार लेकर चले जाते हैं। साधुवोंका आहार कठिन नहीं है, बिल्कुल सरल है। साधुजन श्रावकके भोजन बनाते हुएमें पहुंच जाये, उस कालमें सामने कोई चीज न बनाकर चूल्हा आदि न जलाकर उनको आहार दे दिया और उनके चले जाने पर फिर अपना बनाने लगे। चूल्हा बुझाकर देनेमें तो दोष है, और जैसी आग जल रही है जलने दो, उसे बढ़ावो जलावो फूंको मत, उस पर आरम्भ मत करो, साधुको आहार उस क्रिया को बन्द करके दे दो, वह आहार लेकर चला जायगा। तो ये सब तो हुए श्रावक के द्वारा दोष।

आहारके उत्पादन दोषमें धात्रीदोष— अब ऐसे दोषोंको सुनिये कि जिनको साधुजन किया करते हैं। इन दोषोंको करें तो वह साधु सदोष है। (१) घर गृहस्थीके बालकोंके पालन पोषणकी बात बतलाकर श्रावकको आकर्षित कराकर आहार लेना साधुके लिए दोष है। कदाचित् उपदेशमें बात आ जाय गृहस्थ धर्मके प्रकरणमें तो वह बात अलग है, किन्तु यहां तो प्रयोजन यह है कि श्रावकके मन माफिक बात अच्छी बता दूं तो वह हलुवा आदि कुछ बनवाकर खिला देगा। बालकोंको यों खिलाना, यों सुलाना, यों रखना, इस प्रकारकी बातें सुनाने पर रागभरी बातें हो जाती हैं। वाह हमारे साधु बड़े अच्छे हैं, हमारे बच्चोंकी बड़ी खबर रखते हैं और फिर खूब अच्छा अच्छा बनाकर खिलायें यह साधुका दोष है।

दूतदोष व निमित्त दोष— (२) कोई साधु दूसरे गांव जा रहा है तो किसीसे मिलकर जाय और वह संदेश दे कि महाशय फलाने हमारे सम्बन्धी हैं, फलाने हमारे साढ़ू हैं, उनके राजी खुशीके सारे समाचार दे देना। वह साधु वहां पर जाकर संदेशा कहे और संदेशा कहकर आहार ले तो वह साधुके योग्य नहीं है। देखते जावो साधु कितना निरपेक्ष होता

है। इसमें यह दोष भरा है कि मैं संदेशा सुनाऊँगा तो वह जान जायेंगे कि महाराजजीका हमारे समधी साहबसे भी सम्बन्ध है, वह भी आपके भक्त हैं, ऐसी वातें सुनकर वह खुश हो जायेंगे और खूब अच्छा आहार बनाकर खिलायेंगे, ऐसे भी आहारको साधुजन नहीं लेते हैं। (३) कोई निमित्त ज्ञानकी बात बताकर, हाथ दिखाकर, लक्षण बताकर जमीनमें गड़ा धन है, कोई सगुन असगुनकी बात बताकर उसके यहां आहार लेना यह भी साधुके दोषवाला आहार है।

वनीपक और आजीव दोष— (४) दाता जैसे वचन सुनकर खुश रहे और उसकी जो कुछ समस्या हो, कथन हो, वार्ता हो, आइटम हो, उनके ही अनुकूल बात बोलना, फिर आहार लेना यह तो साधु के लिए दोषकी बात है। (५) अपनी जातिकी श्रेष्ठता बताकर हम अमुक जातिके हैं, अमुक वंशके हैं, शुद्ध जातिके हैं, मैं ऐसे बड़े घरका हूं, इतना छोड़ करके त्यागी हुआ हूं, अथवा कोई जन्त्र मन्त्रकी बात बातकर मैं इस बातमें बड़ा चतुर हूं, मैंने इतने काम किये, ऐसी कुछ वार्ता बोलकर आहार ग्रहण करे तो वह भी आहार सदोष आहार है। अरे पेट भरने भरके लिए इतनी बात सोचना, श्रम करना यह तो आसक्तिको सूचित करना है। साधुजन तो निरपेक्ष वृत्ति वाले होते हैं।

आहारोत्पादनमें क्रोधदोष व मानदोष— (६) क्रोध करके भोजन करना अथवा डाट डपटकर क्रोध करके व्यवस्था बनाकर वहां आहार करना यह भी सदोष भोजन है। (७) बड़ी कलासे बड़ा अभिमान बताकर आहार लेना यह भी साधुके लिए दोषकी बात है। लोग कहा करते हैं कि साधुके सिंहवृत्ति होती है। तो सिंहवृत्तिका क्या यह अर्थ है कि अपना बड़ा तूफान मचाकर श्रावकोंमें खलबली मचा देवे यह सिंहवृत्ति है तो उस सिंहवृत्तिका यह अर्थ है कि अपने आपमें जो कोई कष्ट हो, विपदा हो, दुःख हो, क्लेश हो उसका कारण दूसरेको न मानना किन्तु अपने भावको ही अपने क्लेशका कारण समझना और अपने पूर्व उपार्जित कर्मके उदयको निमित्त समझना यह है सिंहवृत्ति। सिंहकी तरह खूंखार होकर तूफान मचाकर, एक गड़बड़ी पैदा करदे, लोगोंको भयभीत करदे इसका नाम सिंहवृत्ति नहीं है।

श्वानवृत्ति व सिंहवृत्ति में अन्तर— देखो एक जानवर होता है कुत्ता। वह बड़ा उपकारी है। रोटीके दो टुकड़े डाल दो, इतनेमें ही २४ घन्टे आपकी सेवा बजाता है, पहरा लगाता है और बड़ी विनयसे पूँछ

हिलाकर आज्ञा मानकर कृतज्ञता प्रकट करता है, हर समय आपकी सेवाको तैयार रहता है। है नहीं ना, कुत्ता उपकारी जानवर और सिंह अनुपकारी है, दुष्ट है। कहीं सिंह दिख जाय तो कहो धोती ढीली हो जाय। सिंह घरके भी किसी काम नहीं आता है। तो इनमें से श्रेष्ठ कौन हुआ? कुत्ता हुआ ना? कुत्ता उपकारी है। किसी सभामें किसी उपकारी पुरुषके प्रति जरा यह तो कह दो कि अमुकचन्द, अमुकमल, अमुकप्रसादका क्या कहना है। ये तो बड़े उपकारी जीव हैं, ये तो प्रजा का बड़ा ख्याल रखते हैं, ये तो कुत्तेके समान हैं (हँसी)। इसमें हँसनेकी क्या बात है, कुत्ता बड़ा उपकारी तो है। किसी उपकारी पुरुषको कुत्तेकी उपमा देना अच्छी बात है, लेकिन लोग सुनकर रुष्ट हो जायेंगे और, यदि यह कह दो कि अमुक नेता तो सिंहके समान है, कहा तो यह है कि खूँख्वार है, किसीके काम नहीं आने वाला है, दुष्ट है, अर्थ तो उसका यह है। अरे जैसा सिंह होता है वैसा ही बताया है, किन्तु सिंहकी उपमा सुनकर खुश हो जाया करते हैं। यह किस बातका फर्क है? उतने गुण होकर भी कुत्तेकी उपमा लोग नहीं सुनना चाहते और इतने अवगुण होकर भी सिंहकी उपमा लोग सुनना चाहते हैं। कहांसे यह अन्तर आ गया?

ज्ञानी और अज्ञानीमें उपादानदृष्टि व निमित्तदृष्टिका अन्तर—सुनिये! यह अन्तर आ गया एक सम्य दृष्टिकी कला और मिथ्यादृष्टिकी कलाका, पद्धतिका। कुत्तेको कोई लाठी मारे तो वह इतना अज्ञानी है कि वह लाठी तो चबायेगा पर मारने वाले पर हमला नहीं करता। जैसे कि मिथ्यादृष्टि जीवके कुछ पीर आ जाय, दुःख आ जाय तो दूसरे पुरुषों पर क्रोध करता है, इसने मुझे यों किया, पर यह नहीं जानता कि इस पुरुषका क्या कसूर है, कसूर तो मेरे इस अज्ञानभावका है, अपने ही कषाय मानसे मैं दुःखी हो रहा हूं, यह उसे पता नहीं है। सिंहको कोई तलवार मारे लाठी मारे तो वह तलवार या लाठी पर हमला नहीं करता है, वह तो सीधा मारने वाले पर ही प्रहार करता है। जैसे कि सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी समय दुःखी हो जाय, पीड़ित हो जाय तो वह किसी मनुष्य पर क्रोध न करेगा, किसी दूसरे व्यक्तिको अपने दुःखका कारण न मानेगा, किन्तु अपना ही अज्ञान परिणाम, अपना ही कषाय परिणाम जो साक्षात् इस मुझ पर आक्रमण कर रहा है ऐसे परिणामको क्लेशकारी मानेगा यह अन्तर है और इसी भावसे सिंहवृत्ति नाम पड़ा है कि साधुके सिंहवृत्ति होती है। कहीं उसका अर्थ यह नहीं है कि साधुजन आहारको निकलें तो छाती फुलाकर पहलवानोंकी तरह हाथ पैर करके इधर उधर

देखते हुए जायें, इसे सिंहवृत्ति नहीं कहते हैं, ऐसे समस्त दोषोंको टालकर साधुजन आहार करते हैं।

आहारमें मायादोष व लोभदोष— (८) साधुजन मायाचार करते हुए भोजनग्रहण नहीं करते। कैसा मायाचार हुआ करता है भोजनग्रहण करनेमें? एक तो आहारके समय चक्कर काटे साधु प्रभाव बढ़ानेके अर्थ तब जो भक्त पुरुष हैं वे क्या करते हैं कि देखा कि महाराजका कहीं आहार नहीं हो रहा है तो तीन कलश लेकर खड़े हो गए, स्त्री पुरुष खड़े हो गये, बाप बेटा खड़े हो गए, साधुके लग रहे हैं चक्कर। चाहे कुछ सोचा हो चाहे न सोचा हो, जिस किसी घरमें जो अपनेको इष्ट जंचा वहां चले गये लोगोंके पूछने पर कुछसे कुछ कह दिया यह भी तो मायाचार है। भोजन करते हुएमें भी अपनी मुद्रा कुछ कड़ी वीरता बताने वाली बना लेना, जिस से लोग प्रभावित हो जायें, ऐसे कितने ही मायाचार आहारमें सम्भव हो सकते हैं। तो अनेक मायाचार होते हैं। कहां तक नाम लिया जाय? कितने ही मायाचार तो बताये जा सकते हैं और कितने ही मायाचारोंके भाव होते हैं और वे भी नहीं पकड़ पाते हैं। मायाचार सहित भोजन करना चाहे वह अत्यन्त विशुद्ध हो तो भी एक दोष है। (९) लोभके परिणाम सहित आहारादि ग्रहण करना ऐसा यह भी सदोष आहार है। लोभपूर्वक, आसक्ति पूर्वक आहार लेने वालेके आत्मतत्त्वका ध्यान नहीं रह सकता है।

आहारमें पूर्वस्तुति दोष व पश्चात्स्तुति दोष— (१०) साधुजन आहार करने के पहिले दातारकी स्तुति अथवा प्रशंसा नहीं करते हैं क्यों कि पहिले प्रशंसा करनेका भाव यह है कि उनका मन खूब भर जाय और वे दो चार बढ़िया चीजें भी बनाकर खिलायें, यह भी आहारका दोष है कि भोजनसे पहिले दाताकी प्रशंसा करना। (११) इसी प्रकार भोजनके बाद भी दाताकी प्रशंसा करना भी आहारका दोष है, उसमें क्या भाव भरा रह सकता है कि यहां ठहरना तो है ही। आगे भी भोजन यह बनाए और बढ़िया भोजनका प्रबंध करे और आहार करनेके बाद दाताकी प्रशंसा करे, वाह कितना सुन्दर आहार बनाया है, यह चीज बड़ी मिष्ट है, क्या कहना है इनके भावोंको, बड़ी उदारता है—ऐसा कहते हुएमें एक तो आत्मगौरव नष्ट होता है, दूसरे कृपणताकी व्यक्ति होती है।

आहारमें चिकित्सा, विद्या व मन्त्र दोष— (१२) साधुजन किसी भी प्रकारकी चिकित्सा करके, उपकार करके या आयुर्वेदकी औषधि सम्बन्धी उपदेश भी करके आहार नहीं लिया करते हैं क्योंकि चिकित्सा

करके फिर उस आशयसे आहार लेनेमें साधुजनोंको दोष होता है। (१३) साधुजन विद्या द्वारा आहार नहीं लिया करते हैं। साधुजन सधी हुई विद्या द्वारा दिया आहार ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि ऐसे परिणाम रखनेमें साधु ने अपना आत्मविश्वास खो दिया है, और दीनता उसके अन्दर आ जाती है। (१४) साधुजन मंत्र तंत्र सिखाकर मंत्रोंकी आशा देकर या मंत्रसे देवताका आमंत्रण कर सम्पन्न हुआ आहार साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। कहीं कथानक आया है। जब बड़ा अकाल पड़ा था, हजार वर्षसे भी पुरानी कथा है। कोई जंगलमें साधु रहते थे। आहारकी कोई विधि न जानते थे, विकट भयानक जंगल था। वहां पर देवतावों ने आकर भोजन-सामग्री उपस्थित की, किन्तु पहिचान तो साधुको हो ही जाती है। वहां उस आहारको साधुवोंने नहीं ग्रहण किया।

आहारमें चूर्ण व वेश दोष— (१५) चूरन चटनीका नुक्सा बनाकर अथवा कोई वेशभूषा आदिक बनानेका चूर्ण सम्पादित कराके आहार तैयार करे तो ऐसा आहार साधुजन नहीं लेते हैं। वह तो आजीविकाकी तरह हो गया। (१६) कितने ही पुरुष साधुके पास आते हैं और वशीकरणका मंत्र पूछते हैं। कोई कहता कि हमारा पति हमारे वश नहीं है, कोई ऐसा मंत्र बता दो कि हमारे वश हो जाय। कोई कहता कि हमारी स्त्री वशमें नहीं है, आज्ञा नहीं मानती है कोई ऐसी तरकीब बता दो कि हमारी स्त्री हमारे वशमें हो जाय। अथवा जिसका जिससे अनुराग हो उसको वशमें करनेकी युक्ति जाननेके पीछे पड़े रहा करते हैं। साधुजन ऐसी कोई योजना नहीं बताते हैं। ऐसा उपाय बताकर साधुजन आहार ग्रहण नहीं करते हैं। ये सब मार्गविरुद्ध क्रियाएँ हैं।

मार्गविरुद्ध सदोष आहारका निषेध— साधुजन इन मार्गविरुद्ध क्रियावोंको करके आहार नहीं लेते हैं। जैसे पहिलेके उद्गम दोष श्रावक के द्वारा, हुआ करते हैं ऐसा बताया गया था, लेकिन ये उत्पादन दोष पात्रके द्वारा हुआ करते हैं। साधुजन इन दोषोंसे सहित प्रवृत्तिसे आहारको ग्रहण नहीं करते। कैसा अनासक्तिका भोजन है, जैसे हिरण थोड़ी भी आहट पाये तो झट खाती हुई घासको छोड़ देते हैं, यों ही ये साधुजन थोड़ा भी दोष देखते हैं तो आहारको तज देते हैं। ये तो विधिविधान भावके दोष हैं किन्तु कोई दोष ऐसा हो जो भोजनविषयक ही हो तो उस भोजनको भी साधुजन ग्रहण नहीं करते हैं। किसी आहारके सम्बन्धमें साधुको यह शंका हो जाय कि यह आहार ग्राह्य है अथवा नहीं है? भक्ष्य है अथवा नहीं है, तो उस आहारको साधु ग्रहण नहीं करता। कोई भोजन

कसी वजनदार ढक्कनसे ढका हुआ है—जैसे डेगची पतेली तो है हल्का और उन पर सेर दो सेरका ढक्कन हो तो ऐसे ढक्कनसे ढकी हुई चीज को देनेमें साधु आहार नहीं लेता है। कारण यह है कि यदि वह ढक्कन गिर जाय तो किसीके भी चोट आ सकती है। प्रासुक भी पदार्थ है किन्तु वह किसी अप्रासुक पत्ते आदिसे ढका हुआ हो तो ऐसा भोजन भी साधु ग्रहण नहीं करता है। ये आहारविघटक दोष कहे जा रहे हैं। दातारका हाथ घी तेल आदिसे चिकना हो, ऐसे चिकने हाथसे दिये गए आहारको साधजन ग्रहण नहीं करते हैं। जो भोजन किसी जीव जंतुके ऊपर रक्खा हुआ हो, पात्र रक्खा हो वह आहार भी साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं।

आहारसम्बन्धी अन्य दो — कभी कोई इस तरहसे आहार दे रहा हो कि कुछ चीज नीचे गिर जाय, कुछ बर्तनमें आ जाये, जैसे चम्मचसे कुछ तो नीचे गिरे और कुछ चम्मचमें आ जाय तो ऐसे आहारको भी साधुजन नहीं लेते हैं। अथवा कोई अनिष्ट नीरस चीज है तो उसे कह दें, उँ हूं, अंजुली बंद करले और जब रसीली चीज दिखाये तो, हां, अजुली खोल दे इस विधिसे भी साधुजन आहार नहीं ग्रहण करते हैं। कोई पदार्थ जो प्रासुक न हो, रस, गंध, वर्ण बदल जाय ऐसे जलको साधुजन ग्रहण नहीं करते हैं। अर्थात् कुएसे जैसा ही जल निकलता है ठीक उसही रूपमें जल ग्रहण नहीं करते हैं, गरम हो या रंग बदले तो उसको ग्रहण करते हैं। कोई श्रावक अपने कपड़े लटक रहे हों उनको घसीटकर यत्नाचार-रहित खींचकर आहार दे तो साधु आहार ग्रहण नहीं करते हैं बर्तन चौकेसे घसीटकर विधिवत् आहार बन ए तो साधुजन उस आहार को नहीं ग्रहण करते हैं। यों भोजनसम्बन्धी कोई दोष हो तो वहां साधुजन आहार नहीं ग्रहण करते हैं। ठीक है ना।

दायकदोष— अब जरा देने वालेके दोष निरखिये—देने वाला यदि इस-इस प्रकारके दोषसे सहित है तो दे नहीं सकता भोजन। आगममें उसको आज्ञा नहीं है। कैसे दोषवाला हो ? जो मद्य पीता हो, शराब पीने वाला हो, रोगसे ग्रस्त हो, बुखार आता हो, जुखाम भरा हुआ हो, ऐसे कोई कठिन रोगसे पीड़ित हो, भूत प्रेत पिशाचका सताया हुआ हो अथवा जो स्त्री रजस्वला हो या बच्चेका प्रसव किया हो वह ४० दिन तक दोष सहित है, कोई गमन करके आया हो, कोई शरीरमें तेल लगाये हुए हो, तेल लगाकर नहा धो लिया हो, पोंछ लिया हो वह बात अलग है, पर कोई तेल लगाकर भी आया हो, ऐसे दातारके हाथका भी भोजन साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं।

कोई पुरुष अथवा स्त्री भींतकी आड़में खड़ी होकर भोजन दे रही हो जैसे कोई बहू स्वसुरको खिलाये तो आड़में छिपी हुई एक तरफसे डाल दे, इस तरह आड़में छिपा हुआ कोई पुरुष या स्त्री साधुको आहार दे तो वह ग्रहण नहीं करता है अथवा रसोई घरके आगे एक आधी भींत बना देते हैं अथवा भींतमें कोई वेथा भरका तक्का बना देते हैं, परोसने वाला उस से निकालकर आहार देता है, तो ऐसे आहारको साधुजन नहीं लेते हैं। उनकी रसोई तो खुले दरबारकी तरह दिखनी हुई होनी चाहिए। एक-एक चीज स्पष्ट देखने में आये, कहां बनाया, कैसे बनाया, कौन कैसे खड़े हैं? सब दिख जाय। भींतकी आड़से खड़े होकर दातार आहार दे तो साधुजन आहार ग्रहण नहीं करते हैं। जहां आहार करने वाले साधुजन खड़े हों उससे बहुत ऊपर खड़े होकर कोई भोजन दे अथवा उससे नीचे खड़े होकर कोई आहार दे तो साधु उस आहारको नहीं ग्रहण करता है। समान भूमि प्रदेशमें खड़ा होकर कोई आहार दे तो साधु आहार लेता है।

निषिद्ध दायक— कोई नपुंसक हो, जिसे च्युत किया गया हो, बहिष्कार किया हुआ हो, किसी स्त्रीको रख लिया हो अथवा रखी हुई स्त्री से उत्पन्न हुए आदिक दोष हों तो उसके हाथका साधु आहार नहीं लेता है। कोई आचरणसे भ्रष्ट हो, पतित हों, परस्त्रीगामी, वेश्यागामी हो, ऐसा दातार तो सदा अशुद्ध रहता है, साधुजन उसके हाथका आहार नहीं लेते हैं। कोई लघुशंका करके आया हो अथवा और कुछ व्यसना करके आया हो तो साधुजन उसके हाथका आहार नहीं लेते हैं। नग्न पुरुषके हाथका आहार नहीं लेते हैं। वेश्या तो आहार देनेके योग्य है ही नहीं। जो क्षुल्लिका हो, अर्जिका हो या संन्यासपनेका भेष रखने वाली कोई महिला हो तो उसके हाथका आहार साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। ५ माहसे अधिक गर्भवाली स्त्री भी आहार नहीं दे सकती है। जो ८ वर्ष तककी छोटी कन्या हो--कन्या इसलिए कहा है कि भोजन देनेका काम प्रायः महिलाका होता है, तो छोटी कन्या हो अथवा छोटा बालक हो तो उसके हाथका आहार साधुजन नहीं लेते हैं। कोई अत्यन्त वृद्धा हो, चलनेमें पैर कांपें, देनेमें हाथ कांपें, ऐसी वृद्धाके हाथसे भी साधुजन आहार नहीं लेते हैं।

आहारकी अदुर्गमता— आप लोग सोचते होंगे कि तब तो बड़ा मुश्किल है। इतनी इसमें सीमाएँ लगा दी है। अरे मुश्किल क्या है? साधुजन तो आहार ग्रहण करनेको अपेक्षा आहार न मिले, उसमें खुश रहा करते हैं। कोई खाता हुआ आहार देने लगे तो भी साधु आहार नहीं लेता है। आप सोचते होंगे कि ऐसा भी कहीं मौका आता है कि खाते हुए

में आहार देने लगे। अरे होते हैं ऐसे मौके। लोगोंने साधुवोंके आहारकी विधि ही बहुत ऊँची बढ़ाकर बना रक्खी है कि वह तो अपने बच्चोंको भी न खिलाए, रोता है तो रोने दो जब महाराजको आहार करा देंगे तब इस बच्चेको खानेको देंगे। कितना कठोर बर्तावका आहार लोगोंने बना लिया है? पहिले क्या होता था, रसोई बन रही है, लोग अपना काम किए जा रहे हैं उसके ही बीचमें साधुजन सामने आ खड़े हों और उसही समय उन्हें पड़गाहा या भोजनसे पहिले दरवाजे से पड़गाहा, आहार करा दिया, ऐसी अचानक की स्थितिमें कुछ भी हो रहा हो, घरमें कोई खा रहा हो और खाते हुएमें ही कोई साधु आ गया, झट थोड़ा मुँह धोया पोंछा और झट पड़गाहा कर आहार देने लगे, ऐसी स्थितियां भी हो जाती थीं। इससे आप अंदाज करलो कि साधुका आहार कितना सुगम और सात्विक है? तो झटपट हाथ मुख पोंछ कर दातार द्वारा दिए जाने वाले आहारको साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। कोई अंधा हो उसके हाथका भी आहार साधु नहीं लेता है। कोई स्त्री बैठे-बैठे आहार दे, तो महाराज तो ऐसा आहार भी साधुजन नहीं लेते हैं।

आहारके समय आरम्भका निषेध— अग्नि जलाने वाला अथवा बुझाने वाला आहार दे रहा हो तो साधु आहार नहीं लेता है। अग्नि जलानेकी अपेक्षा अग्नि बुझाकर आहार देनेमें अधिक दोष है। मगर अग्निकी तो कणिका भी साधुको न दिख जाय, इसलिए अग्निमें पानी डालकर बुझा देते हैं और चूल्हे को लीप पोतकर ऐसा साफ रखते हैं कि जरा भी नहीं मालूम हो पाता कि कैसे आहार बनाया गया है? जरा विवेक तो करो। प्राकृतिकता तो यहां है कि गृहस्थका काम गृहस्थी जैसा हो रहा है, होने दो, वहां अचानक साधुजन आ गये ना अग्निको यों ही जलने देना चाहिए। उसे छूते नहीं बढ़ाय नहीं, बुझाये नहीं और साधुको आहार दे देना चाहिए। यदि कोई अग्निको बुझाये या ढाके तो साधु उसके हाथका आहार नहीं लेता है। अग्निको कोई फूँके तो ऐसी स्थितिमें भी साधु आहार नहीं लेता है। होता है ऐसा कि चूल्हेमें लकड़ी जल रही है— थोड़ी मंदी पड़ गयी तो उसही लकड़ी को मुखसे या किसी चीजसे फूँक दे तो ऐसी स्थितिमें साधु आहार नहीं लेता है।

आहारके समय अन्य दोषोंका बचाव— मकान कोई लीप रहा हो, उसके हाथका भी आहार साधुजन नहीं लेते हैं। कोई मिट्टीसे या गोबरसे घर लीप रहा हो और उसी समय कोई मुनि महाराज आ गये तो झट हाथ पैर धोया, थोड़ा नहाया भी उस समय, तो भी ऐसा आहार साधुजन

नहीं लेते हैं। आप जान जावो कि जितना साधुओंके आहारके समय आजकल बनावटी अटेन्शन होना पड़ता है उतना अटेन्शन पहिले नहीं होना पड़ता था। साधुवोंके आहारके समय इतना बनावटी अटेन्शन होने की जरूरत नहीं है। आपका गृहस्थीका काम चल रहा हो, साधु महाराज उसी बीचमें आ जायें तो प्रेमसे आहार दे दो, वे आहार लेकर चले जाते हैं। जो केवल एक ही वस्त्र पहिने हो, उसके हाथका आहार भी साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। दूध पीते बच्चेको छुड़ाकर आहार कोई दे तो उसके भी हाथका आहार साधुजन नहीं लेते हैं। कोई बच्चेको नहलवा रहा हो ऐसी स्थितिमें भी काम छोड़कर साधुको आहार देन आये तो साधु उस आहार को नहीं ग्रहण करता है। स्त्री हो अथवा पुरुष हो ऐसी व्यसनावों में ऐसे स्थानोंमें रहने वाले दातारके हाथका भी भोजन साधु नहीं ग्रहण करता है।

साधुजनोंकी आन्तरिक रुचि— भैया! बहुत समयसे आहार आहारकी चर्चा चल रही है और कितनी ही बातें ऐसी हैं कि संक्षेपमें बताया जाय तो भी दो तीन दिनमें बताया जा सकता है। संक्षेपमें यों जानों कि साधुजन इतने निरपेक्ष होते हैं कि लाभ और अलाभमें समता परिणाम रखने वाले हैं, धुन है उनको इसकी। जैसे कंजूस गृहस्थको धन कमानेकी रुचि है उसे क्या कभी देखा है सुखसे खाते हुए? खानेकी ओर से वह निरपेक्ष रहता है। चाहे दो दिन भूखा रह जाय पर रहना चाहिए धन। यों ही जिसको आत्मीय ज्ञानानन्दघनके संचय करने की धुन लग गयी है ऐसे आत्महितका अर्थी साधु आहारमें क्या अपेक्षा रक्खेगा? एक दो दिन न आहार मिले तो उसे कुछ परवाह नहीं है, उसे तो चाहिए ज्ञानानुभव और सहज आनन्दका परिणमन, वह उसीमें ही मस्त है।

अपवित्र आहार— अब सुनिये, कोई आहार ही ऐसा विकट हो जाय, साक्षात् सदोष है, तो उस आहारको तो गृहस्थ भी नहीं लेता है, फिर साधुजन उसे क्या लेंगे? पीप, थूक, मांस, मज्जा, चमड़ा, दो इन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव या उसमें पड़ा हुआ कंद या जो अंकुर होने वाला हो ऐसा बीज, जैसे कि लोग चने या मूँगको शामको भिगो देते हैं और सुबह अंकुर हो जाते हैं, ऐसी कुछ चीजें मिली हुई हों, बेर आदिक तुच्छ फल पड़े हुए हों या चावलके अन्दर रह जाने वाला कच्चा कण है भीतर कच्चा, बाहर कच्चा, तो ऐसे आहारको साधुजन ग्रहण नहीं करते हैं।

साधु योग्य आहारकी तीन विशेषतायें— साधुजन वही आहार

लेते हैं जो आहार प्रासुक हो। इसी टीकामें बताया है कि आहार मनोहर हो, मनको हरने वाला हो। प्रत्येक बातमें कलाका आदर रखिये। कलाके मामलेमें कुछ त्यागी संतोंको छूट दे देना। वे कपड़े भी ढंगसे संभाल नहीं पाते। हम तो जानते हैं कि कोई ठीक-ठीक कपड़े न ओढ़े हो तो वह भी एक वैराग्यकी कला है। गांधी जी का एक बटन खुला ही रहता था। तो जो पुरुष कर्मठ है और किसी उपकारकी धुनमें लगा है ऐसा पुरुष दूसरी कला विलासको प्राप्त हो रहा है। कलाहीन पुरुषकी क्रिया यथालाभ नहीं पहुंचाती है। यह न सोचो कि भोजन करना है बना दिया किसी तरह। अर कला सहित बना हुआ भोजन इस बातकी सूचना देता है कि जिसमें ऐसी कला है भोजन बनानेकी उसमें सावधानी भी बहुत अच्छी रही होगी। काला कलूटा किस ही रंगका भोजन हो तो उससे यह साबित होता है कि भोजन बनाने वालेने असावधानी भी बहुत करी है। इसलिए आहार मनोहर हो, प्रासुक हो और नवकोटिसे विशुद्ध हो, ऐसा शुद्ध-आहार ही साधुजन ग्रहण करते हैं।

अन्तरायोंका वर्णन— साधुजन ३२ प्रकारके अंतरायोंको टालकर आहार लिया करते हैं। अंतरायोंके सम्बन्धमें भी सब लोगोंको बहुत भ्रम है। जो अन्तरायकी बात नहीं है उसे अन्तराय समझना, जो अन्तराय हैं उन पर दृष्टि न देना—ऐसी बहुतसी जानकारियां हैं, ऐसे ३२ प्रकारके अन्तराय याने विघ्न हुआ करते हैं कि जिन विघ्नोंके होने पर साधु आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

काक, अमेध्य व वमन अन्तराय— साधु पुरुष अपने निवासस्थान से अथवा मंदिरसे शुद्ध भक्ति करके संकल्प करके जब चर्याके लिए चलते हैं—रास्तेमें कोई पक्षी बीट कर जाय और साधु शरीर पर पड़ जाय तो उस समय वह साधु अंतराय मानता है और यह अंतराय सबकी समझमें ही आ जायेगा। वह अपवित्र हो गया, चौकेमें जाने लायक नहीं रहा ऐसा अंतरंगमें प्रकट ही है, इसी प्रकार साधुका पैर बीटमें या अपवित्र पदार्थमें पड़ जाय तो भी अपवित्र मानते हैं। यह भी सबको स्पष्ट ज्ञात होगा कि शरीरकी अपवित्रतामें आहारचर्याका साधक नहीं कहा जा सकता। किसी कारण भोजन करते समय अथवा चर्याको जाते समय वमन हो जाय तो भी साधुजन आहार ग्रहण नहीं कर सकते।

रोधन, अश्रु, आक्रंदन अन्तराय— जब साधु जनोंको चर्या करते हुएमें कोई विघ्न आ जाता है तो भी साधुको अन्तराय है। कोई पुरुष साधुको रोक दे कि तुम आहार करने मत जावो तो रोकने पर भी साधु

को अंतराय है। साधुजन निरपेक्ष भावसे सहजरूपमें आहार ग्रहण करते हैं। यह भी स्पष्टसा है कि जिसका शरीर अशुद्ध हुआ, परिणामोंमें अशुद्ध हुआ, परिणामोंमें अशुद्धता दिखी, वहां भी साधु अंतराय मान लेता है। इतनी निरपेक्षता है साधु पुरुषोंको। कदाचित् आहार करते हुए मुनिराज के किसी कारण आंसू आ जायें तो भी साधु उसमें अंतराय मान लेते हैं। आहारको जाते समय किसी पुरुषके शोक भरे आंसू दिख जायें या किसी वेदनाके कारण चिल्ला रहा हो कोई तो साधुजन अतराय मान लेते हैं। कदाचित् कोई बच्चा शोकभरा आक्रन्दन मचा दे तो उस आक्रन्दनको देखकर साधुजन आहार नहीं लेते हैं। किसी जगह ऐसा होता है कि खूब घंटा बजावो ताकि साधु किसीका रोना न सुने, ऐसी बनावट योग्य नहीं है। ऐसी हालतमें भी साधु आहार नहीं ग्रहण करता है। साधुजन किसी को रोता बिलखता हुआ देखें अथवा रोता बिलखता हुआ सुनें तो ऐसी स्थितिमें आहार करने में वे असमर्थ हैं। उनका दिल आहारमें मदद नहीं दे सकता है, वे करुणा करिके भरे हुए हैं, इसलिए शोकभरी मुद्रायुक्त किसीके आगे, दुःख अथवा शोकभरी आवाजमें ऐसे आक्रन्दन सुनें जिससे यह विदित हो कि इसे ऐसी पीड़ा है, किसीने सताया है, तो ऐसी स्थितिमें साधुजन आहार करने में असमर्थ होते हैं। साधुजनों की आहारके समय ही क्या, प्रत्येक समय बड़ी निरपेक्ष वृत्ति होती है।

असाधु पुरुषोंकी वृत्तियां— कितने ही पुरुष तो ऐसे होते हैं कि डंडोंसे मारते जावो फिर भी खाना मांगते जाते हैं। जैसे कोई भिखारियों को भोजन कराये, सबको खबर दे दी जाय तो वे कैसे टूटते हैं? व्यवस्था करने वाले लोग उन्हें पटरी बेंतसे मार भी देते हैं, धक्का दे देते हैं, क्यों यहां आए, लाइनसे खड़े हो, अरमें खड़े हो, दरवाजे से बाहर खड़े हो, कितनी ही बातें की जाती हैं फिर भी वे भोजन मांगते हैं। कुछ लोगोंकी तो ऐसी वृत्तियां होती हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जहां मारपीट या ऐसी व्यवस्था देखी तो कहते हैं कि भोजन लेनेकी क्या जरूरत, क्या भोजन लेना। कोई लोग अच्छी तरह बुलाने पर आते हैं और आहार लेकर चले जाते हैं। कोई लोग आमंत्रण और निमंत्रण करने पर आते हैं, कोई आमंत्रण करने पर भी बड़ा प्रेम दिखायें तो भोजन करते हैं अन्यथा नहीं करते हैं।

साधुवोंकी निरपेक्ष वृत्ति—साधुजनोंकी सर्वोत्कृष्ट निरपेक्ष वृत्ति है। वे आमंत्रणसे भी नहीं पहुंचते हैं और किसी प्रकारकी अन्य व्यवस्थावोंसे भी नहीं पहुंचते हैं। उन्हें आहार करना आवश्यक ही नहीं

मालूम होता है। जब तीव्र क्षुधा वेदना होती है और जानते हैं कि रस्सी तन चुकी है अब अधिक तानना अच्छा नहीं है। सो उस समय वे क्षुधा शांत करनेके लिए निकल जाते हैं। कोई नवधा भक्ति सहित, बड़े उच्च सम्मान सहित पड़गाहे तो खड़े हो जाते हैं और शुद्धभाव दातारके देखे जिसका वर्णन आगे आयेगा तो वे आहार ले लेते हैं। साधुसंत अपनी मुद्रामें भी ऐसी वृत्ति नहीं करते हैं जिसमें कायरता जाहिर हो।

चर्याके प्रारम्भसे ही साधुवोंकी आत्मसावधानी— साधु पुरुष चर्याके लिए जब उठते हैं तो सिद्ध प्रभुका स्मरण करके उनकी भक्ति करके और प्रतिज्ञा करके उठते हैं। मैं अब आहारकी चर्याके लिए जा रहा हूं। हे प्रभु! यह मैं एक आफतमें जा रहा हूं क्योंकि आहार लेना भी एक बड़ी आंतरिक विपत्ति है। भोजनकी ओर दृष्टि हो जाती है और उन परिस्थितियोंमें यह आत्मा प्रभुको भी भूल जाता है, अपने स्वरूपको भी भूल जाता है, यों समझो कि साधुजन आहार करने के प्रसंग को एक आगमें कूदकर निकल जानेकी तरह समझते हैं। अब आहार करनेके लिए जा रहे हैं तो कितनी ही परदृष्टियां करनी होंगी। हे प्रभु! जाना पड़ रहा है। आहारसे आत्माका कुछ हित नहीं है। मैं जानता हूं, किन्तु वर्तमान भवकी परिस्थिति ही ऐसी है कि जाना पड़ेगा।

जान्वधः परामर्श अन्तराय— आहारकी चर्याके लिए जब साधु भक्ति करके जाता है तो घुटनाके नीचे कोई खाज हो जाय अथवा कोई जीव जंतु थोड़ा काट ले तो भी वहां वे हाथ नहीं लगाते। घुटनेके नीचे खाजकी वजहसे किसी कारणसे साधु हाथ लगादे तो अंतराय हो जाता है। क्या बात हुई, वहां कायरता जाहिर हुई? शरीरमें इतनी आसक्ति कि कमरके नीचे घुटनेके नीचे हाथ लगाना पड़ा—ऐसा प्रसंग आ जाय तो साधु वहां आहार नहीं लेता है, अंतराय हो जाता है। बतलावो जहां अपनी ही बात है वह भी अंतरायमें शामिल है तो जोर देकर गुस्सा होकर दंदफंद करके व्यवस्था कराये, ये सब तो महा कायरताकी ही बातें हैं।

जानूपरिव्यतिक्रम अन्तराय— साधुचर्याको जा रहा हो। रास्तेमें जंगलमें कहीं आड़ा बांस लगा हो, अगंला लगा हो जो जमीनसे दो तीन हाथ ऊँचा हो, जिसको लांघकर जानेमें कुछ अलगसे चेष्टा करनी पड़ती हो, ऐसी स्थितिमें साधु पुरुष अर्गलाको लांघनेका अंतराय मानते हैं। सुननेमें ऐसा लगता होगा कि हो क्या गया, किसी जंतुका घात नहीं हुआ कोई और भी गड़बड़ी नहीं हुई, अंतराय क्यों हुआ? अरे अंतराय क्यों

हो गया ? यों हो गया कि उनके आत्मप्रभुके आदर सम्मानताके विरुद्ध यह चेष्टा है। यों तो भिखारी लोग भोजन करने कूद-कूद कर आया करते हैं, पर साधुपुरुष कूदकर अर्गलाको लांघ कर चर्या नहीं किया करते हैं। यदि ऐसा करें तो कायरता की बात आती है।

नाभ्यधोनिर्गम अन्तराय— कभी चर्या करते हुएमें कोई स्थान ऐसा हो कि दरवाजा अत्यन्त छोटा हो या कहीं तीन साढ़े तीन फिट ऊँचे कोई बांस लगे हों और वहांसे कमर झुका कर निकले तो वह भी अंतराय हो जाता है। साधुवोंकी चर्या निरपेक्षता और शांतिसे होती है। जो आहार करते हुए भी छठे गुणस्थानमें रह सके ऐसा परिणाम जिनका हो अंदाज करो कितना निरपेक्ष परिणाम साधुका होना चाहिए। वह यदि नाभिसे नीचे अपने शरीरको करके निकले, घुटना टेक करके निकले तो वह भी उनका अन्तराय है। फिर साधु आहार नहीं लेते हैं।

प्रत्याख्यातसेवन व जन्तुवध अन्तराय— साधुजनोंने जिस वस्तुका त्याग कर रक्खा हो वह वस्तु खाने में आ जाय तो वह भी अन्तराय है, इसके बाद वह आहार नहीं लेता है। यद्यपि वह भी वस्तु प्रासुक है, कोई दोष वाली चीज नहीं है लेकिन निर्दोष चीजमें भी और अधिक त्यागका करना विधिमें है। त्यागी हुई चीज खानेमें आ जाय और फिर भी खाता रहे तो यह उसके भीतर कायरताकी बात है। यदि कोई चूहा, बिल्ली, कुत्ता आदि जानवर कोई जीवका घात करे और साधु देख ले तो ऐसी स्थितिमें साध आहार नहीं लेता है। थोड़ा-थोड़ा तो आप भी आहार न लेते होंगे जब आपके सामने कोई बिल्ली चूहेको पकड़ ले और आप आहार ले रहे हों तो अंदाज कर लो कि क्या आहार करने को दिल उस समय करता है ? फिर वे साधु तो उत्कृष्ट पुरुष हैं, उन्हें आहार करते में यदि ऐसी बात दिख जाय तो साधुजन आहार कैसे ले सकते है ?

काकादिपिण्डहरण अन्तराय— साधुजन आहार हाथमें लेते हैं बर्तनमें नहीं। हाथमें आहार लेनेमें कई गुण हैं। पहिले तो एक आयुर्वेद का ही गुण देख लो—हाथकी हथेलियोंपर रक्खे हुए भोजनके खानेमें कई विशेष गुण होते हैं। बहुत देर तक रक्खे रहनेमें तो गुणोंके बजाय अव-गुण हो जाते हैं। जैसे हथेली पर कुछ चाट वगैरह लोग खाते हैं और फिर जो बच जाती है उसे भी जीभसे चाटकर खाते हैं तो चाटने वालों को शायद भारी स्वाद आता होगा। हाथमें भोजन करनेसे बीचमें अंतराय आ जाय तो श्रावकका एक दो ग्रास ही खराब होगा। थालीमें भोजन करेंगे तो बीचमें अन्तराय आ जाने पर सारा खाना खराब हो

जायेगा। साधु पुरुष तो साधु हैं, वे भोजन भी बरबाद नहीं करना चाहते हैं। साधुजन अपने हाथ पर ही आहार लिया करते हैं। किसीके घर बरतन हो अथवा न हो अथवा बरतनमें भोजन करनेके बाद श्रावक उसे मांजने दे अथवा न मांजने दे, पता नहीं कब तक थाली मांजनेके लिए रक्खी रहे और फिर हाथमें खानेसे स्वतंत्रता है। हाथमें ले लिया खाकर चल दिये। साधुजनोंके पास समय कम होता है, खाने पीनेमें समय काफी लगता है, इससे भी वे हाथमें ही भोजन करके चले जाते हैं। हाथमें भोजन करते हुएमें या मार्गमें ऐषणा चर्यामें चिड़िया बीट करदे तो साधुको अंतराय हो जाता है। वह लोकव्यवहारमें अशुद्ध हो गया। ऐसी स्थितिमें यदि साधु आहार ग्रहण करे तो उसमें आसक्ति जाहिर होती है।

पाणिपिण्डपतन अन्तराय— साधुपुरुष हाथ पर भोजन कर रहे हों, वहां किसी समय अपने हाथसे कोई ग्रास नीचे गिर जाय तो साधु अंतराय मान लेता है। जिसकी छितरी अंगुलियां होती हैं उसे साधु होना नहीं बताया है। टेढ़ीटाढ़ी बीचमें कहीं मोटी, कहीं पतली ऐसी अंगुली हों तो उसे साधु होना नहीं बताया है, क्योंकि ऐसी छितरी अंगुलियां हों तो वह सिद्धान्तके अनुसार चर्या करके आहार ले ही कहां सकेगा? आहार नीचे गिरेगा, दाल गिरेगी, दूध गिरेगा, पानी भी गिरेगा, जंतुवोंको बाधा होगी, श्रावकों को बाधा होगी। तो कोई साधु ऐसा जो आहारके लिए न उठ सके, जिस किसीमें ऐसा दम बने, वह भले ही बने ऐसा साधु और अपना कल्याण करे, परंतु व्यवहारकी बात तो व्यवहारकी तरह होगी। कल्याणकी बात कोई साधु ही होकर करे, ऐसी तो बात नहीं है। कोई क्षुल्लक वगैरह बन कर करे या और नीचे कोई ब्रह्मचारी वगैरह बनकर करे, पर व्यवहारमें जो विधि बतायी गयी है, चर्या उस विधिसे ही होगी।

तीर्थविरुद्ध प्रवृत्तिके निषेधका समर्थन— जिसका लिङ्ग या अंडकोश बड़ा हो वह साधु नहीं बन सकता। कोई कहे कि आत्मकल्याणसे और इससे क्या मतलब है, अरे मतलब व्यवहारमें प्रजासे भी है और परमार्थमें आत्मासे भी है। वृद्ध अंडकोशादि होने से लोकवातावरणमें धर्मकी कितनी अप्रभावना है। उसे साधु होना नहीं बताया है। हां, अगर हो भी जाय साधु, तो वह जंगलमें एकांतमें रहे, पर वह चर्या नहीं कर सकता है। जैसा आगममें कहा है उस विधिसे चले। आत्मकल्याण तो आत्मस्वरूपके श्रद्धानमें ज्ञानमें और आचरणमें है। मनाही नहीं है, कैसा ही पुरुष हो तो भी धर्म और तीर्थ प्रवृत्तिके अनुकूल ही व्यवहार हुआ

करेगा। साधुजनोंके भोजन करते हुएमें आहार यदि हाथसे गिर जाय नीचे तो वे अंतराय मानते हैं, उसमें जंतुवोंको पीड़ा हुई, श्रावकका अन्न खराब गया। आहारका चौका भी अशुद्ध हो गया। सब जगह भोजनके कण बिखर जायें, ऐसी वृत्तिसहित साधुजन आहार नहीं करते हैं।

पाणिजन्तुवध अन्तराय-- किसी भी प्रकारसे श्रावकको बाधा न हो--ऐसी वृत्ति वाला साधु भोजन कर रहा है। कोई मच्छर उसके हाथ पर आ गया और मर गया तो ऐसी स्थितिमें साधु आहार नहीं करते हैं। यहां क्या होगया, क्यों किया ऐसा? मच्छर मर गया, अरे क्या हुआ खावो हर एक के यहां ऐसा चलता है। भैया! क्यों सब जगह अधिक नहीं चलना है? क्यों थोड़ा चला करना है?

सीमातीत तर्ककी अनुपयोगिता-- एक पुरुष था वह हर बातमें "क्यों" के बिना कोई काम ही न चले और "क्यों" से सब जगह आपदा मिले तो भी हर जगह वह क्यों ही कहे? तो उसने सोचा कि यह अपना "क्यों" किसीको दे देवें। सो वह अस्पतालमें पहुंचा। वहां एक रोगीसे कहा कि भाई तुम्हारे रोग है, हमसे १०० रु० ले लो और हमारा क्योंका रोग ले लो। अच्छा भाई। अब जब उस रोगीको डाक्टर देखने आया तो पूछा कि तुम्हारी तबियत कैसी है? तो मरीज बोला-क्यों? डाक्टर ने उसे निकाल दिया। अब वह रोगी उसके पास पहुंचा जिससे १०० रु० लेकर क्योंका रोग लिया था। बोला लीजिए अपने रुपये और क्योंका रोग हमें न चाहिए कुछ। अब क्यों वाला वह एक वकीलके पास पहुंचा, बोला १०० रु० ले लो और हमसे हमारा क्यों का रोग ले लो। वकीलने कहा अच्छा भाई। अब कोई केस आया--जज ने वकीलसे पूछा कि इस मामलेमें तुम कुछ सबूत भी रखते हो? वकील बोला- क्यों? क्यों तो क्यों सही। मामला खारिज हो गया। वकील ने फिर उसे उसके रुपये और क्योंका रोग वापिस कर दिया। अब उसने सोचा कि अपना क्यों का रोग किसे दें? ध्यान आया कि किसी स्कूल जायें, स्कूलके बच्चे नट-खट होते हैं उन्हें १०५ रुपये देकर अपना क्योंका रोग दे देंगे। सो स्कूल में जाकर किसी बच्चेसे कहा कि हमसे १० रुपये ले लो और हमारा क्यों का रोग ले लो। अच्छा भाई। अब मास्टरने उस बच्चेसे पूछा कि तुमने अपना पाठ याद कर लिया? तो वह बोला--क्यों? मास्टरने उसे पीटा, परेशान किया। उसने फिर उसके १० रु० और क्योंका रोग उसी को वापिस कर दिया। तो यह क्योंका रोग बड़ा विकट होता है। सो क्यों थोड़ी ही चलाना अच्छा है, कुछ अनुभव व श्रद्धासे भी काम लो।

इन सबमें कुछ कारण तो विदित हो जाता है। यहां हिंसा का दोष लगा। यहां कायरताकी बात आयी। जहां कोई भी अपेक्षा विदित हो वहां साधुजनोंको अंतराय हो जाता है।

मांसादिदर्शन, उपसर्ग, पादान्तरपञ्चेन्द्रियगमन व भाजनसंपात अन्तराय— भोजन करते हुएमें साधुको कोई मांसादिक अशुचि चीज दिख जाय तो वे अंतराय मानते हैं। भोजन करते समय कोई उपसर्ग करे किसी प्रकारकी पीड़ा दे तो वह भी अन्तराय हो जाता है। वे नहीं सोचते कि अभी तो भोजन करलें फिर देखा जायेगा। जरा भी कोई उपसर्ग करे तो वहां अन्तराय हो जाता है, फिर वे आहार नहीं लेते हैं। भोजनके लिए वे चल रहे हैं, चलते हुएमें उनके दोनों पैरोंके बीचमें से कोई पंचेन्द्रिय जीव निकल जाय तो वे आहार नहीं लेते। दाता आहार दे रहा है, आहार करते हुएमें दाताके हाथसे कोई कटोरा आदि बरतन नीचे गिर जाय तो साधु आहार नहीं लेता है। वहां फिर यह भिक्षा नहीं चलती है कि आइये महाराज कोई जीव नहीं मरा, कोई दोष नहीं हुआ, खाली कटोरी थी, आप अभी न जावो, आहार करते रहो। वे आहार नहीं करते हैं। तीर्थप्रवृत्ति को बिगाड़नेमें बड़ा दोष है। जो दोष खुदसे सम्बन्ध रखना है वह इतना भयानक नहीं है और जो दोष आम व्यवहारसे सम्बन्ध रखता है उसमें अधिक दोष है। वे साधुजन अन्तरायके समय आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

उच्चार, प्रस्त्रवण व अभोज्यगृहप्रवेश अन्तराय— साधु भोजनके लिए जा रहे हैं या आहार कर रहे हैं और कदाचित् पेटकी खराबीसे या अन्य किसी कारण अशुचि हो जाय तो भी वे आहार नहीं करते हैं। इसी तरह कुछ थोड़ासा मूत्र निकल आये तो आहार छोड़ देते हैं। साधुजन भोजनके लिए चलते हैं वहां यह नहीं देखते हैं कि यह धनीका मकान है या गरीबका मकान है। वे चौकेमें जाकर थालियोंकी निगरानी नहीं करते कि हमें आहार दिखावो। उन्हें सरस नीरसकी अपेक्षा नहीं रहती है। कोई धनी हो चाहे गरीब हो, प्रत्येकके यहां साधुजन आहार लेते हैं। तब किस अभोज्यके घर कभी प्रवेश हो जायें तो फिर आहारको न जायें। अंतराय हो जायेगा। यों साधुपुरुष निरपेक्ष वृत्तिसे अपने आहारकी ऐषणा करते हैं।

पतन व उपवेशन अन्तराय— साधुजनोंके आगे कोई मूर्छित हो जाय या साधु मूर्च्छित हो जाय, गिर जाय अथवा किसी कारण भूमि पर कोई गिर जाय तो साधु अंतराय मानते हैं, शरीरकी अति दयनीय स्थिति

में भी आहार करे कोई तो उसमें आसक्ति कारण होती है। साधुजन आहारमें अनासक्त है, इस कारण सीधी सुविधापूर्वक सद्व्यवहारमें आहार प्राप्त होता है तो आहार ग्रहण करते हैं। कदाचित आहार लेते हुएमें थके होनेके कारण साधु भूमिपर बैठ जायें तो यह भी उनका अन्तराय है। जैसे मंदिरमें या निवासस्थानमें सिद्धभक्ति करके आहारकी चर्या को चले और रास्तेमें कहीं किसी चबूतरे पर या अन्य किसी जगह बैठ जाय तो फिर वहां साधुको अन्तराय हो जायेगा, वह फिर आहारको न जायेगा। शीघ्र सोचनेमें ऐसा लगता है कि इसमें हो क्या गया अंतराय ? बैठ गया तो अच्छी बात है। लेकिन बैठकर आराम करके, भोजनके लिए जाय, ऐसी वृत्ति निरपेक्ष साधु संत जनोंकी नहीं होती है।

संदेश व भूमिस्पर्श अन्तराय-- साधुकी चर्या हो रही हो, उस समय या आहारके समय कोई कुत्ता बिल्ली आदि जानवर काट जाय तो वहां साधुजन अंतराय मानते हैं। कोई कीड़ा काटता भी रहे और खाता भी रहे--यह बात आसक्ति बिना नहीं होती साधारणजनोंको भी, बालकजनोंको भी यदि कोई मार पीटकर खिलाना चाहे तो वे ऐसा खाना वे भी पसंद नहीं करते। यदि ऐसा करते हैं तो समझो कि उन्हें भोजनकी अधिक आसक्ति है। सिद्धभक्ति करनेके बाद साधुका हाथ भूमिको स्पर्श करले तो भी उनके अंतराय हो जाता है। इन सब बातोंका आसक्तिसे अधिक सम्बन्ध है।

निष्ठीवन अन्तराय-- आहार करते हुएमें साधुके कफ निकल आए थूक निकल आए, नाक निकल आए तो वहां भी साधुको अंतराय होती है। उसकी मुद्रा इतनी शांत निरपेक्ष दर्शनीय होनी चाहिए कि किसी भी समय साधुके दर्शन करे कोई, आहारके समय अथवा बैठे, उठे, लेटेके समय किसी भी समय साधुका दर्शन करे कोई तो उसको उसमें आकुलता न विदित हो। जैसे अन्य लोग मोही जन अपने मोह और राग को पुष्ट करने वाली वृत्तियां करते हैं ऐसी प्रवृत्ति करते हुए साधु दिख जाय तो दर्शकके चित्तमें वहां उपासनीयताकी सन्मुखता नहीं रहती है। मान लो आहार करने जा रहे हैं और नाक पोछते जा रहे हैं, उसमें कुछ पूज्यतावाली बात नहीं रह पाती चित्तमें और वह पोंछे काहे से, वस्त्र भी नहीं है, हाथ ग्रासमें फंसा हुआ है, ऐसी स्थितिमें कफ थूक नाक निकल आये तो साधु जन अंतराय मानते हैं।

उदरकृमिनिर्गम व अदत्तग्रहण अन्तराय-- कोई ऐसा रोग हो जिससे पेटमें कीड़े पड़ जायें, वे कीड़े किसी द्वारसे निकलें तो ऐसी

स्थितिमें भी साधुके भोजनमें अन्तराय है। साधुजन बिना दिए हुए भोजन नहीं लेते। जैसे कि गृहस्थजन पासमें वस्तु रखे हैं तो जो हाथ जूठा नहीं है उस हाथसे परस लेते, उठा लेते, खाते हैं, ऐसी बात साधुसंतों में नहीं होती। यह बात तो दूर ही रहे संकेत करके भी साधजन आहार नहीं लेते हैं, अपनी मुट्ठीसे किसी वस्तुको संकेत करे 'हूं हूं अमुक चीज' ऐसा संकेत करके भी साधजन आहार ग्रहण नहीं करते। न बिना दिया हुआ लेते, न संकेत किया हुआ लेते। यदि बिना दिया हुआ आहार ग्रहणमें आ जाय या किसी वस्तुका संकेत कर दिया जाय तो साधुके अंतराय होती है।

प्रहार व ग्रामदाह अन्तराय— कोई पुरुष साधुपर प्रहार करे, ढेला मारे तो भी साध अंतराय मान लेते हैं, आगे नहीं जाते हैं। जिस ग्राममें चर्या हो रही है, जिस स्थान पर चर्या चल रही है उसके निकट किसी ग्राम में आग लग जाय, अग्निदाह हो जाय ऐसी स्थितिमें भी साधुजन आहार ग्रहण नहीं करते हैं। अन्य जगह तो लग रही आग और साधु महाराज अपने पेटकी ही फिकर रक्खें, ऐसी निर्दयता का परिणाम संत पुरुषोंके नहीं होता है।

पादग्रहण व हस्तग्रहण अन्तराय— साधुजन किसी वस्तुको पैरसे उठाकर ग्रहण करे, ऐसी कोई बात बन जाय तो भी अन्तराय है। हो जाता होगा कुछ ऐसा, किसी वस्तुको भूमि परसे हाथसे उठा लिया तो यह भी अंतराय है। सुननेमें ऐसा लगेगा कि कोई चीज हाथसे उठा लिया भूमि परसे तो क्या हर्ज है? अरे अन्य समय उठाले तो हर्ज नहीं है। समिति पूर्वक पिछी कमण्डल आदि उठाते ही हैं किन्तु आहार चर्याके लिए गमन होनेके बीचमें किसी वस्तुको भूमि परसे उठाये तो यह राग प्रसिद्ध करता है और भोजनमें भी इतनी आसक्ति है कि भोजनविषयक चर्या और मुद्रा से वह हट गया।

आहारमें साधुवोंकी निर्दोष प्रवृत्ति— यों साधुजनोंके ३२ प्रकारके अन्तराय होते हैं। उन अंतरायोंको टालकर साधजन आहार लेते हैं। ४६ दोषोंको टालकर ३२ अंतरायोंको टालकर साधुवोंका आहार होता है। इसके अतिरिक्त साधुजन वहां ही आहार लिया करते हैं जहां दातारमें ये ७ प्रकारके गुण हों।

दातारके सप्तगुणोंमें श्रद्धा गुण— दातार श्रद्धावान् हो। यदि दातारमें श्रद्धा नहीं है, आ गये हैं सिर पर खिलाना ही पड़ेगा, ऐसी स्थिति में वे आहार बनाएँ तो साधजन आहार नहीं लेते हैं। यदि दातार श्रद्धालु हो तो साधुजन आहार लेते हैं। साधुजनोंकी उपासनासे ही हम आपका

हित होगा और हम लोगोंका यह कर्तव्य है और सौभाग्य है कि ऐसे पात्रों का समागम मिल रहा है। बड़ी श्रद्धा सहित दातार होना चाहिए।

शक्ति गुण— दूसरा गुण है दातारमें शक्तिका होना। श्रद्धा तो है सब कुछ, किन्तु व्यय करनेकी शक्ति नहीं है अथवा श्रम करनेकी शक्ति नहीं है। यहां वहांसे उधार लेकर या अपने आपके घर वालोंको भूखा रख कर अधपेट रखकर, चलो आज हम सब थोड़ा ही थोड़ा खायेंगे साधको आहार दें—श्रद्धा तो है, परिणाम भी निर्मल है किन्तु साधु ऐसा जान जाय तो वह वहां आहार नहीं लेता है। उसमें शक्ति भी होनी चाहिए।

अलुब्धता— तीसरा गुण है दातारमें अलुब्धताका होना, लोभका न होना। श्रद्धा भी है कि दान देने से सुख मिलता है, पुण्य होता है, अगला भव भी सुधरता है, देना चाहिए। कदाचित् इसही बातका लोभ हो जाय कि मुझे भोगभूमि मिलेगी तो यह भी एक आंतरिक लोभ है, पर ऐसा लोभ भी हो जो वर्तमानमें समर्थ होते हुए भी व्यय करनेका भाव न हो तो वहां साधुजन आहार नहीं लेते हैं। और किसी-किसी श्रावकके तो लोभका परिणाम इतना अधिक हो जाता है कि अतिचारमें लिखा है कि साधुके खाने योग्य पदार्थको संचित वस्तुसे ढाक देना, यह है अतिथि संविभाग व्रत, किन्तु इसमें दोष लग गया। जैसे १० चीजें रक्खी हैं, एक चीज पर हरा पत्ता ढाक दे तो अतिथि संविभागमें क्यों दोष है? यों दोष है कि दातारने यदि इस भावसे ढाका है कि यह चीज कीमती बनी है, सचित्तसे ढाक दें तो साधमें खर्च न होगा। घरमें बाल बच्चे बहुत हैं तो उनके काम आयेगा। यह परिणाम है इसलिए अतिथि संविभागव्रतमें यह दोष है। इतना तक लोभ हो जाता है कि अगर घी पासमें रक्खा है और उसे कोई दूसरा परोसे तो उसे कह दिया जाता है तुम यह परोसो, यह काम करो और खुद घी परोसते हैं, ऐसा परिणाम भी एक लोभका परिणाम है। ऐसे कितने ही कार्य लोभमें शामिल हो जाते हैं ऐसा परिणाम रखने वाले दातारके हाथका भोजन साधुजन नहीं लेते हैं। साधुको तो ना ना चाहिए और श्रावकको हां हां चाहिए। वह आहारदान प्रशंसाके योग्य है। अगर साधु संकेत करे, हां हां करे तो वह आहारदान योग्य नहीं है। तो दातारमें अलोभका भी गुण होना चाहिए।

भक्ति— चौथा गुण है भक्ति। दातारमें भक्ति हो। भक्ति कहते हैं गुणके अनुरागको। साधुके गुणोंमें अनुराग रखते हुए जो दान किया जाता है वह है भक्तिसहित दान। साधुको दानदाता की सब परख हो जाती है जैसे कि व्यापारी को अपने सभी काम धंधोंकी बड़ी परख रहती

है और कहते हैं कि हम उड़ती हुई चिड़िया भी परख लेते हैं। यों ही साधसंतजनोंका इस प्रसंगका रोज रोज काम रहता है इसलिए दातारोंको वे शीघ्र परख लेते हैं और अपने इस अनुभवके बलसे वे अपनी प्रवृत्ति निर्दोष रखते हैं। दातारमें अटूट भक्ति रहनी चाहिए, उस साधुके प्रति जिसे आहार दान किया जा रहा है।

दातारका ज्ञानगुण— ५ वां गुण है ज्ञान। दातारमें सर्व प्रकारका ज्ञान होना चाहिए। जिसने कभी आहार न दिया हो, पहिले ही आहार देवे तो कुछ देनेका ही नाम तो दान नहीं है। विधि हो, पद्धति हो, ढंग हो, सर्व प्रकारका ज्ञान हो, द्रव्य, क्षेत्र, काल भावका ज्ञान हो। पुरुष तो पड़गाहकर भक्तिपूर्वक ले गया और कहा अन्न जल शुद्ध है आइये। और चौकेमें पूछते हैं कि यह क्या चीज है, अरे उसे जब यही नहीं मालूम है कि यह काहे का साग है तो उसने क्यों बोल दिया कि अन्न जल शुद्ध है। प्रायः ऐसा लोग बहुत जगह करते हैं। स्त्रियां बहुत ऐसा करती हैं। तुम्हारे घर आहार बना है? हां हां अच्छा हम भी आती हैं। धोती बदल दें फिर आहार दे दें। वहां सभी चीजोंका पता नहीं है और कह देती हैं कि महाराज आहार जल शुद्ध है। अरे ऐसा कहनेका उन्हें क्या अधिकार? तो सर्व बातोंका ज्ञान होना चाहिए। क्या बना है, कैसी चीज है, आहारका भी ज्ञान हो, आहार देनेकी विधिका भी ज्ञान हो, कुछ धार्मिक ज्ञान हो ताकि समझमें तो आ जाये कि यह साधु है, पात्र है, अमुक है, इस सम्बन्धमें भी कुछ ज्ञान हो, तो दातारमें ज्ञानगुण भी होना चाहिए।

दया— छठा गुण है दया। दयाशील साधु हो। किसी भी दूसरे पुरुष पर दया न रक्खे, खुदगर्ज हो, निर्दयी हो, ऐसे पुरुषके हाथका आहार लेना योग्य नहीं है। कोई कहे वाह हम निर्दय हैं तो रहने दो, हम खुदगर्ज हैं तो तुम्हें इससे क्या मतलब? तुम्हें तो भक्तिभावसे ही आहार दिया जा रहा है। तुम्हें तो कुछ टोटा नहीं है। बढ़िया चीज बनाया है और बड़े आदरसे आपको दे रहे हैं क्यों नहीं लेते? अरे कहने दो। जो पुरुष अन्य जीवोंके लिए निर्दय है, किसीके उपकारके काम नहीं आता है उससे सेवा लेनेमें कुछ संकोच होता है कि नहीं? अपने अपने अनुभवसे विचारो। जो पुरुष दयाहीन हैं, अन्य जीवोंके किसी भी काममें नहीं आते, खुदगर्ज हैं, ऐसे दातार साधुको आहार देनेके योग्य नहीं माना गया है। दया होनी चाहिए सर्व जीवोंके प्रति। यहां दयासे मतलब यह नहीं है कि साधुपर दया करे ऐसा गुण होना चाहिए, किन्तु दयाका

स्वभाव होना चाहिये। ऐसे दयालु स्वभाव वाले श्रावकसे साधुजन आहार लिया करते हैं।

क्षमा-- ७ वां गुण है क्षमा। क्षमाकी प्रकृतिका होना। अन्यथा कहो उसी समय जरा-जरासी बातोंमें क्रोध करे। कोई चीज दे रहा है, कोई पुरुष उससे कहे कि तुम देना नहीं जानते हो, यों दो, इतने में ही गुस्सा चढ़ सकती है। तुम आए बड़े देने वाले, कहो वहीं लड़ बैठे। साधु तो आहार कर रहा है और वह वहीं लड़ बैठे। तो क्षमाका भी गुण दातारमें होना चाहिए। कुछ भी किसीसे अपराध बन गया, वहां क्षमा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य समयोंमें भी क्षमाकी प्रकृति वाला दातारको होना चाहिए। क्रोधी पुरुषके हाथका तो आहार भी पचना कठिन है।

क्रोधशील पुरुष द्वारा प्रदत्त आहारका परिणाम-- गुरुजीने एक बार सुनाया था कि ईसरीमें एक ब्रह्मचारी आये थे। थे तो बड़े श्रद्धालु, किन्तु क्रोधकी प्रकृति अत्यधिक थी। एक दिन आहार बनाया, उसमें वह चीज लाये जिसमें गुरुजीका उस दिन त्याग था। जैसे मानो सावनमें आम नहीं खाते हैं, ऐसी कुछ बात थी, पर दूसरेके द्वारा कुछ मना किये जाने पर एकदम क्रोध आ गया और कहा कि कल हम आहार करेंगे, अगर महाराज आहार न लेंगे तो हम कुएंमें गिरकर मर जायेंगे। खैर ऐसा कोई कहे तो वहां आहारको जाना चाहिए ऐसी विधि नहीं है। न जावे। सिद्धान्तमें यह आज्ञा है कि न जावे। अपना विनाश करने वाला कोई नहीं है। और इस भयसे यदि उस ही के घर जाने लगे तो रोज कहने वाले मिलेंगे और गिरनेकी धमकी देने वाले मिलेंगे, तब रक्षा साधु अपनी कैसे करेंगे? हठ करे, कोई भी भय दिखाये कि हमारे यहां आहार करने जाना ही पड़ेगा तो आज्ञा नहीं है कि वहां जाय। लेकिन गुरुजी तो कोमल स्वभावके थे। गये, भोजन किया। उस भोजनके बाद उनके जो मलेरिया आई कि उस मलेरियाने २०, २५ दिन पिंड नहीं छोड़ा। दातारको क्षमाशील होना चाहिए। उसके ही हाथका आहार ग्रहण करना साधुको योग्य है।

सप्तगुणसहित दाताए द्वारा दत्त आहारके ग्रहण का विधान-- ऐसे दातारके जो सात गुण हैं, दातार उन गुणोंसे सहित हो और शुद्ध हो, आचार विचारोंका पवित्र हो और बाह्यमें भी स्नान किए हुए शुद्ध वस्त्र पहिने हुए हो, ऐसे योग्य आचरण वाले उपासकके द्वारा दिए गए भोजनको साधुजन ग्रहण करते हैं। ऐसे जो परमतपस्वी पुरुष हैं उन्हें

आहारविषयक आसक्ति नहीं रहती। यद्यपि आहार संज्ञा छठे गुणस्थान तक है, पर आहार संज्ञाकी भी तो अनेक डिगरियां हैं। छठे गुण स्थानमें आहारविषयक वाञ्छाका संस्कार अत्यन्त शिथिल है। श्रावककी भांति भी नहीं और अन्य अज्ञानियोंकी भांति तो कुछ भी नहीं है। ऐसे निरपेक्ष परमतपोधन सप्तगुणसहित श्रावकके हाथका आहार ग्रहण करते हैं और उनके एषणासमिति होती है।

समितिमें निवृत्ति अंशका आदर— एषणा नाम है आहारकी खोज करनेका, पर इस तरहकी खोज नहीं कि ढूँढ रहे हैं, कहीं आहार बन रहा है और हाथ मारकर ले गए, इस प्रकारका नहीं, किन्तु चर्यासे जाकर वहां किसी दातारने भक्तिपूर्वक शुद्ध विधिसे आदि आहार दान किया तो वहां आहार ग्रहण करते हैं। इस वृत्तिका नाम है एषणासमिति। प्रत्येक समितिमें निवृत्ति भरी हुई है। प्रवृत्तिकी मुख्यता नहीं है, प्रवृत्तिकी मुख्यता हो तो वहां संवर निर्जरा न होगा, सो वहां अनशन स्वभाव वाले आत्मतत्त्वका ध्यान रखते हुए आहारको वे ग्रहण करते हैं अर्थात् निश्चयसमितिपूर्वक व्यवहार-एषणाका पालन करते हैं।

साधुयोग्य नवकोटिविशुद्ध आहार— साधुजन नवकोटि विशुद्ध आहार लेते हैं, अर्थात् जिसे न मनसे किया हो, न कराया हो, न अनुमोदा हो, न वचनसे किया हो, न कराया हो, न अनुमोदा हो, जिसे कायसे न किया हो, न कराया हो, न अनुमोदा हो ऐसा नवकोटि विशुद्ध आहार साधुजन लेते हैं। प्रासुक भोजनका भी साधुके आरम्भ हो तब भी उसमें दोष है। साधुजन अपना अधिक ध्यान रखकर आहारको करें, करायें अथवा अनुमोदें तो भी आरम्भके दोषका भागी होना पड़ता है। गृहस्थजन आरम्भ करनेके दोषी हैं हां। वे त्रसहिंसाके त्यागी हैं, पर स्थावर हिंसाका त्याग गृहस्थके नहीं है। वे अपने लिए कल्याण भावसे शुद्ध भोजन किया करते हैं, उस बने हुए शुद्ध भोजनके समय साधुजन आ जायें तो श्रावकके अतिथि संविभाग होता है, वे अपनी वृत्तिका पालन करते हैं, वहां साधुजन आहार करने आयें तो दोष नहीं है।

साधुयोग्य मनोहर एवं प्रासुक आहार— साधुजन मनोहर आहार करते हैं। अमनोहर पदार्थ न होना चाहिए। यदि आहार बेडौल, बेरूप, बेरंग, बेढंगका हो तो ऐसे आहारके करनेमें एक आसक्तिका भी दोष लगता है। इतनी तीव्र आसक्ति है कि कैसा ही बेडौल आहार बना हो और फिर भी उसे खाया जाय, ऐसे आहारके करनेमें आसक्तिकी भी बात आती है। साथ ही उसमें यह भी बात गर्भित है कि बनाने वाला कलावान

नहीं है। जिसके बनानेकी रंच भी कला नहीं है उसके बनानेमें सावधानी भी नहीं हो पाती है। इस कारण साधुजन मनको हरने वाले आहारको ही लेते हैं। साधुजन प्रासुक ही आहार लेते हैं। ऐसे आहारको भी साधुजन लड़ भिड़कर नहीं लेते। मांगकर नहीं लेते किन्तु नवधा भक्तिसे कोई आहार कराये तो आहार लेते हैं। वे नौ भक्ति कौनसी हैं उन्हें सुनिये।

प्रतिग्रह – नवधाभक्तिमें प्रथम है प्रतिग्रह पड़गाहना। सामने आते हुए साधुको ग्रहण करना, ले लेना। जैसे जब बरात आती है तो लड़की वाला कहता है कि टाइम हो चुका अब बरात ले लो। बरातले लेनेका अर्थ है कि कुछ आगे जाकर बरातको साथमें अपने घरले आवे। सर्व प्रथम बरात लायी जाती है वह बरातका प्रतिग्रहण हुआ। कोई आपका दामाद अथवा अन्य कोई आये और आपको सामनेसे दिख जाय तो आप अपनी बैठक छोड़कर थोड़ा जाते हैं और उसे ले आते हैं। यह हुआ रिश्तेदारका प्रतिग्रहण। यों ही साधजन अपने मार्गसे चले जा रहे हैं, यदि उनका प्रतिग्रह न किया जाय तो वे आपके घरमें न आयेंगे। उनका प्रतिग्रह इस प्रकार है नमोस्तु बोलना और अन्नजल शुद्ध बना हुआ है ऐसा ज्ञापित करके निवेदन करना कि आप ठहरें इसका नाम प्रतिग्रह है। फिर यह कहें कि गृहमें प्रवेश कीजिये। अब घरमें प्रवेश कराया जाय।

उच्चस्थान— घरमें ले जाकर उच्च आसन पर बिठा देना। उच्च स्थान पर बैठनेके लिए प्रार्थना करना। दूसरी भक्ति है उच्च स्थान। साधु घरमें पहुंच गया और छोटासा तख्त भी पड़ा हुआ है पर साधु स्वयं उस पर अपने आप नहीं बैठेगा। आप निवेदन कीजिए कि महाराज आप उच्च आसन पर पधारें तो वे बैठेंगे। इन भक्तियोंको सुनकर थोड़ा ऐसा लगता होगा कि यह तो कुछ सन्मान और गर्वकी बात है। उच्च स्थान पड़ा हुआ है और जान भी रहे हैं कि हमारे बैठनेको ही डाला है पर जब तक कोई कहता नहीं तब तक नहीं बैठते तो यह तो गर्वकी बात है। अरे गर्वकी बात नहीं है। आहार एक ऐसा कार्य है कि वहां कितने ही कारणोंकी वजहसे पूर्णभक्ति देखे तब ही आहार किया जाना चाहिए। अन्य सब बातोंके लिए तो सारा समय पड़ा हुआ है। आहार विधानके अतिरिक्त अन्य समयमें कोई उपसर्ग करे, अपमान करे, कैसी भी स्थिति गुजरे, वहां साधु ध्यानस्थ रहते हैं। आहारके समयमें भी समता है, पर आहार करनेका कार्य पूर्णरूपसे नवधाभक्ति हुए बिना नहीं हुआ करता है।

पादप्रक्षालन— तीसरी भक्ति है पादप्रक्षालन, उनके चरण धोना।

चरण धोनेमें भी श्रावकको परख लेते हैं कि यह समझदार ज्ञानी भक्त है अथवा नहीं, कई बातें जान ली जाती हैं। पानी ज्यादा बखेड़ दें, अधिक पानीसे चरण धो दें तो साधु जान जायेगा कि यह समझदार गृहस्थ नहीं है। साधुकी विधि भली भांति याद होनी चाहिए और चरण धोनेकी प्रक्रियामें कैसे हाथ लगायें, किस ढंगसे बैठें, इन सब मुद्रावोंसे भी यह जान लिया जाता है कि यह प्रीतिपूर्वक हृदयसे यत्न कर रहा है अथवा नगरमें आ गए तो करना ही पड़ेगा इस कारण कर रहा है, कुछ भी उपेक्षा गृहस्थकी समझमें आये तो साधजन वहांसे लौट जायेंगे।

अर्चन— चौथी भक्ति है अर्चन, अभिवादन, अभिनन्दन, पूजन, गुणस्मरण। पादप्रक्षालन करनेके बाद थोड़ा भी कीर्तन करे, धन्य हो महाराज हमारा जन्म सफल हो गया, इतना भी अगर प्रीतिपूर्वक करदे तो यह अर्चनमें शामिल है। उनके लिए चन्दन, अक्षत, धूप आदि सर्वद्रव्य हो, उनकी पूजा भी हो, ऐसा थोड़ा-थोड़ा बढ़कर एक व्यर्थका व्यवहार बन गया है। जिस साधुको आत्मकल्याण की धुनके कारण इतनी फुरसत नहीं है कि किसीके यहां चौकी पर पालथी मारकर ढंगसे बैठकर मौज पूर्वक खा सके, जिसको इतनी भी फुरसत नहीं है वह क्या बैठकर घंटा पौन घंटा खराब करेगा? यदि कोई साधु चाहता है कि होने दो पूजन: लगने दो घंटा पौन घंटा तो समझ लो कि उसका दिल कैसा है? साधु नहीं चाहता है कि गृहस्थके घर हम अधिक समय लगायें और श्रावकजन ऐसा ही बखेड़ा बनाकर उन्हें घंटा पौन घंटा रोक दें तो बतलावो कि सधकी भक्ति की अथवा साधुके प्रतिकूल काम किया। उनकी अर्चना अत्यन्त थोड़े समयमें होनी चाहिए।

प्रणाम और योगशुद्धि— ५ वीं भक्ति है प्रणाम, उनका प्रणमन करना, उनको प्रणाम करना, नमस्कार करना, सिर झुकाकर हाथ जोड़कर अथवा घुटने टेककर उन्हें प्रणाम करना। यह प्रणमन नामक भक्ति है। इसके बाद यह निवेदन करना कि मेरा मन शुद्ध है,' मेरे मनमें कोई दोष नहीं आया है इस आहारकी विधिमें, अथवा अप्रीतिपूर्वक, खेदपूर्वक आहार नहीं बनाया। बड़ी प्रसन्नतासे शुद्धि सहित यह आहार बना है। वचन भी मेरे शुद्ध हैं यह तो प्रकट ज्ञात होता है, काय भी शुद्ध है, यों शुद्धि बोलना चाहिए—इसके बाद चौके के निकट पधरायें और कहें, कहें अन्न जल शुद्ध है, महाराज आहार ग्रहण कीजिए।

किसी न किसी अंशमें सबके प्रति नवधाभक्तिकी झलकें— इस प्रकार की नवधाभक्ति होनेके पश्चात् साधुजन आहार लेते हैं। आपको

यह बात कुछ ऐसी लग रही होगी कि यह कुछ बहुत बढ़ चढ़कर बात हो रही है। यह बढ़ चढ़कर बात नहीं है। आप अपने रिश्तेदारोंको भी खिलाते हैं तो किसी न किसी रूपमें नवधाभक्ति करते हैं। चाहे किसी भी रूपमें रंक। साधुवोंकी बात साधुवोंके योग्य है, व्यवहारकी बात व्यवहारके योग्य है, आप बुलाते हैं कि नहीं चलो लाला साहब भोजन तैयार है, यही तो पड़गाहना हुआ लाल जी का। और जब घरके भीतर ले जाते हैं तो बैठकमें बैठाते हैं चलिए कुर्सीपर, इतनी देरमें भीतर आवाज गई, अभी कितनी देर है? भीतरसे आवाज आयी कि अब देर नहीं है बुला लो। सो अब जल लेकर आ गये चलो लाला जी पैर धोवो। बिना पैर धोए तो चौकेमें नहीं जाते। अब आजकी पद्धतिमें हम क्या बात कहें? हम तो जो भारतकी पुरानी पद्धति है उसके अनुसार कह रहे हैं। सो आजकी पद्धतिमें खाने वालोंने अपमान अपने आप कराया। यदि ऐसा न करते तो उनकी नवधाभक्ति होती। यहां तो सीधा दरवाजेके पासके कमरेमें बैठाल दिया कुर्सी पर, टेबुल रख दिया और भीतरसे खां साहबान प्लेट लेकर आ गये। तो उन्होंने खुद अपना अपमान कराया। नहीं तो आदर होता।

खैर, अब लाला जी का पैर पखारा गया, फिर इसके बादमें थोड़ा सा गुण कीर्तन करते हैं। बहुत दिनमें आये हो, धन्य हो, कुछ भी कहें, इसके बाद कुछ न कुछ हाथ जोड़कर कहते हैं। कि आइये चाहे थोड़ा ही हाथ जोड़ें, पर कुछ न कुछ हाथ जुड़ ही जाते हैं। वहां मन, वचन, कायके शुद्ध बोलनेकी कुछ बात ही नहीं है। वह तो होना चाहिए लाला जी के योग्य मन, वचन, काय। फिर इसके बादमें कहते हैं कि भोजन कीजिए। अगर वे लाला जी तनिक भले हैं, शुद्ध खाते हैं तो कह देंगे कि सब ठीक है, कुवांका पानी है, हाथका पिसा आटा है, भोजन कीजिए, और जो अगड़म बगड़म खाने वाला है तो कह देंगे कि अच्छा भोजन शुरू कीजिए। क्या शुरू किया जाय, सो वह सब जानता है।

योग्यदाता व योग्य भक्ति— नवधाभक्ति पूर्वक जो आहार दान किया जाता है उसे साधुजन ग्रहण किया करते हैं। यों नवधाभक्तिसे ७ गुणोंसे भरा हुआ श्रावक जिसका कि योग्य आचरण है, ७ व्यसनोंका त्याग है, न जुवा खेलता हो, न मांस मदिरा खाता पीता हो, न शिकार खेलता हो, न चोरी करता हो, न झूठ बोलता हो, न परस्त्रीगामी हो, न वेश्यागामी हो—ऐसे शुद्ध आचरण वाला श्रावक हो उसके हाथसे ही आहार बना हो तो तपस्वीजन आहार ग्रहण करते हैं। निश्चयसे देखा जाय तो

इस जीवके आहार ही नहीं होता। आहार मूर्तिक है, आत्मा अमूर्तिक है। अमूर्तिक आत्मामें आहारका सम्बन्ध कहां होता है ? इसके आहार करनेका स्वभाव नहीं है, किन्तु व्यवहारसे जब यह जीव इस असमानजातीयो पर्यायको ढो रहा है तो उसके आहार भी चलता है।

षड्विध आहारमें नोकर्माहार— वे सब आहार ६ प्रकारके होते हैं। यहां कवलाआहारका वर्णन है पर सब प्रकारके आहार ६ तरहके होते हैं। एक तो कर्माहार होता है। अपने शरीरमें चारों ओरसे वर्गणाएँ आती हैं, सूक्ष्म परमाणु स्कंध आते हैं और शरीरमें सीधे प्रवेश कर जाते हैं, शरीररूप बन जाते हैं यह है नोकर्माहार। जब हम आप कवलाहार नहीं कर रहे, ग्रास लेकर आहार नहीं कर रहे तब भी नोकर्माहार हम सबमें चलता रहता है—उसीका विशेषरूप है इन्जेक्शन। इन्जेक्शनसे बाहरकी चीज शरीरमें प्रवेश करा दे, पर यह प्राकृतिक इन्जेक्शन है कि शरीरकी वर्गणाएँ पुद्गल स्कंधके चारों ओर भरी पड़ी हैं, वे शरीरमें आती हैं और शरीररूप बन जाती हैं यह है नोकर्माहार।

कर्माहार व लेप्याहार— दूसरा है कर्माहार जीव कर्मको ग्रहण कर रहा है। चूँकि यह जीव व्यवहारदृष्टिमें असमानजातीय पर्यायके बन्धन में है, इस कारण इस जीवके साथ इन पुद्गल वर्गणाओंको ग्रहण करने का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्मोको ग्रहण करना सो कर्माहार है। यह कर्माहार भी प्रति समय इन संसारी जीवोंके चलता रहता है। एक आहार है लेप्याहार—लेपकर आहार लेना। जैसे पेड़ हैं ये किस तरह आहार लेते हैं ? इनके मुख तो हैं नहीं, ये लेपकर आहार लेते हैं। जड़ों में मिट्टी पानी आदि चिपक जाता है, लिप जाता है और उसहीके माध्यम से वह पुष्ट हो रहे हैं, आहार ग्रहण करते हैं।

कवलाहार— एक होता है कवलाहार, जिसमें बहुत बड़ी परेशानी है—कमावे, इकट्ठा करे फिर भोजन बनावे, तैयार करे, इतनी विपत्तियों द्वारा साध्य है यह कवलाहार। यहां तक तो उसकी एक प्राकृतिकसी बात चल रही है, पर यहां तो जान बूझकर कुछ उद्यम करके ही कवलाहारकी बात की जा सकती है। कमाना भी पड़ता है, सामने हाजिर भी हो जाय तो भी उठकर खानेके लिए यत्न किया जाता है। उद्यम किए बिना कवलाहार नहीं बनता है। कवलाहार देव और नारकियोंके भी नहीं होता है। यह तो दो इन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके तिर्यञ्चोंमें और मनुष्योंमें हुआ करता है।

ओजाहार व मानसिक आहार— एक आहारका नाम है ओजाहार

चिड़िया अंडे देती है, उस अंडेमें वह जीव कई दिन तक रहता है। उस बच्चेको कैसे आहार मिले ? उस अंडे पर चिड़िया बैठ जाती है और अपनी छाती की गरमी देती है जिसे कहते हैं अंडेको सेया, वह सेना क्या है ? अपने शरीरकी गरमी अंडेमें पहुंचायी, यह है ओजोहार। एक आहार होता है मानसिक आहार। मानसिक आहार देवोंके होता है। भोजनकी इच्छा हुई कि उनके गलेसे एक सुधा सरती है और उससे तृप्त हो जाते हैं। इन ६ प्रकारके आहारोंके बिना शरीर कायम नहीं रह सकता भले ही किसीमें एक आहार हो, किसीमें दो हों, किसीमें तीन हों, पर छहों आहार एक जीवमें नहीं होते। कुछ विशेष हो या एक हो। होना चाहिए। आहार न हो तो शरीरकी स्थिति नहीं रह सकती।

सयोगकेवलीके नोकर्माहार— कोई मनुष्य मानो ८ वर्षकी उम्रमें साधु बन जाय और उसके भाव बढ़े, क्षपक श्रेणीमें चढ़े और अरहंत हो जाय, तेरहवें गुणस्थानकी स्थिति हो गयी और आयु है उसकी मानलो एक कोट पूर्वकी। एक कोटपूर्वमें करोड़ों वर्ष होते हैं। तो ८ वर्ष कम इन करोड़ों वर्षों तक अरहंत भगवान् बना रहेगा। लोगोंको उसका दर्शन मिलेगा। अब यह बतलावो कि अरहंत भगवान् कवलाहार करते कि नहीं ? नहीं करते। करोड़ों वर्ष तक वे भोजन नहीं लेते। उनके शरीरकी स्थिति कैसी रहती है ? नोकर्माहारके कारण, शरीर वर्गणाएँ उनकी पवित्र औदारिक शरीरमें आती रहती है और केवल नोकर्माहारके बल पर उनका शरीर करोड़ों वर्ष तक बना रहता है और वह भी शरीर पूर्णबल युक्त होता है। उनके कर्माहार नहीं है, लेप्याहार नहीं है, कवलाहार नहीं है, ओजाहार नहीं है, मानसिकाहार नहीं है केवल एक नोकर्माहार है। शरीरकी वर्गणाएँ आती हैं और उनके कारण शरीर टिका रहता है। ये ६ प्रकारके सभी आहार एक विभावरूप है, व्यवहारनयकी अपेक्षासे ये ६ प्रकारके आहार हैं। निश्चयसे साधुवोंका कैसा आहार होता है ? इसको परिचयमें उदाहरणरूप साधुवोंके आंतरिक वृत्तके आहारकी बात कहेंगे।

अनाहारताकी सिद्धिके लिये आहार— साधुसंत जिनको यह श्रद्धा है कि यह मैं आत्मा आहाररहित हूं, अनाहारस्वभावी हूं ऐसे साधुसंतोंके अंतरंगमें ऐसी प्रतीति रहती है, वह तो तप है ही, किन्तु अनाहार-स्वभावी आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिए जो निर्दोष आहारको ग्रहण करते हैं वह भी तप है। क्या करते हैं साधुजन ? अनाहारस्वभावी आत्माको सिद्ध करने के लिए आहार करते हैं अर्थात् मुझे अनन्तकाल तक भी

आहार न करना पड़े, ऐसी सिद्धिका प्रयोजक आहार करते हैं। जिज्ञासा हो सकती है कि क्या ऐसा भी सम्भव है कि आहार न करनेके लिए आहार करते हैं? हो सकता है।

देखो कोई रईस पुरुष बीमार है, कमरा सजा हुआ है, डाक्टर दो दो तीन-तीन घंटेमें खबर ले रहे हैं। नौकर चाकर भी लगे हैं, सभी वस्तुवें उपस्थित हैं, परिवार, मित्रजन, इष्टजन बड़ी चापलूसी करके उसका चित्त खुश कर रहे हैं, वह दवाई ले रहा है, लेकिन उसके भीतरसे पूछो कि क्या तुम दवाई खाते रहने के लिए दवा ले रहे हो या दवाई न खाना पड़े इसके लिए दवाई ले रहे हो? रोगी पुरुष दवाई न खानेके लिए दवाई खा रहा है। तो ज्ञानी पुरुष भोग न भोगने के लिए भोग भोग रहा है। बड़े पुरुषोंकी बात छोटे लोगोंमें नहीं होती है, ज्ञानियोंकी बात अज्ञानी लोगोंमें नहीं होती है, निर्मोहियोंकी बात मोही पुरुषोंकी भांति नहीं होती है, इसलिए किसीको शंका हो सकती है पर अन्तरमें यह आशय ज्ञानीका विशुद्ध बन गया है कि लौकिक सुखको भोगनेके लिए नहीं भोग रहा हूं किन्तु सुख दुःख दोनोंसे निवृत्त होकर स्वाधीन ज्ञानानन्द स्वरूपके विकास के लिए मैं इनसे निपट रहा हूं। अब देखो जो रोगी औषधिके परिहारके लिए औषधि खा रहा है उसे औषधि खाने वाला नहीं कहा जायेगा, यों ही वियोगबुद्धिसे उपभोक्ताको उपभोक्ता नहीं कहा जायेगा।

प्रवृत्तिमें निवृत्तिका प्रयोजन— जो किसी सेवासे निवृत्त होनेके लिए अंतिम सेवा कर रहा है उसे सेवा करने वाला नहीं कहा जाता। जैसे मानों दो मित्र बड़े परस्परके हित चाहने वाले हैं, उनमें हो गया झगड़ा अथवा दो साझेदार हैं और उनमें हो गया मनमोटाव, तो मनमें यह ठान लिया कि मुझे तो इससे पृथक् होना है, अब ऐसा पृथक् होनेके लिए आखिरी व्यवहार प्रेमका भी कर रहा है और बड़ी मित्रताके वचन भी बोल रहा है, पर यह सब व्यवहार पृथक होनेके लिए हैं ऐसा व्यवहार मिलन बनाये रहनेके लिए नहीं है, यों ही जानो कि इन विषयोंसे इस जीवकी अनादि कालसे मित्रता चली आ रही है। अब इस ज्ञानी संतका विषयोंके भावसे मनमोटाव हो गया है, अज्ञान हट गया है, विवेक जग गया है, लेकिन अभी फंसा है। परिस्थिति विचित्र है। ऐसी स्थितिमें आहार भी करना पड़ता है और कुछ मानसिक शारीरिक वेदनाएँ बढ़ती हैं तो उनका परिहार भी कर रहा है, पर इस ज्ञानीने अपने मनमें यह ठान ली है कि मुझे तो सबसे न्यारा होना है और अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में मग्न होना है, ऐसी ठान ठानने वाले साधुसंत अनाहार स्वभावकी

सिद्धिके लिए आहार लेते हैं, तो वे श्रवण आहार करते हैं या अनाहारी हैं, वे साधुसंत आहार करते हुए भी अनाहारी हैं।

ज्ञानीकी सदाशयतापर एक दृष्टान्त— निकटभव्य जीव जो मुक्ति के अत्यन्त निकट हैं, संसारसे हटने वाले हैं इन्हें संसारकी बातें करनी भी पड़ें तो भी वे हटे हुए करते हैं। किसी सेठकी लड़की विवाह योग्य हो गयी। सेठ कहीं बाहर किसी नगरमें वर ढूँढकर आया। अब घर पर सेठ सेठानीमें बातें हो रही हैं, हम अमुक नगरमें वर ढूढ आये हैं, पक्का भी करके आए हैं, इतनी जायदाद है, इतना पढ़ा लिखा है, दुकान है, किराया है, बातें हो रही हैं, सेठ सेठानीसे सब कहता जा रहा है। बिटिया वहीं पीछे बैठी हुई सब बातें सुन रही है। सुनते ही उसके दिमाग में आ गया कि मेरा तो वह घर है और यहां पिताके यहां पड़ा हुआ लाखोंका वैभव मेरे लिए कुछ नहीं है। इतने पर भी क्या वह लड़की पिताकी जायदादको बिगाड़ देती है? क्या वह सारी व्यवस्था ज्योंकी त्यों नहीं करती है, कहो पहिलेसे भी ज्यादा करे यह समझानेके लिए कि मेरा दिल तुमसे हटा नहीं है। कहो पहिले से भी ज्यादा मन लगाकर पिताका कार्य करे। तब भी उसके चित्तमें दूसरी ही बात समायी है कि मेरा तो सर्वस्व वैभव वह है। यहांसे विरक्ति आ गयी है। ऐसे ही इस संसारमें अनादिकालसे बसे हुए इन जीवोंमें से जिस निकट भव्यने यह बात समझ ली है, ज्ञान जग गया है, मुझे तो मुक्त होना है, संसारके सब झंझटोंसे मुक्त होकर वहां जाना है, वहां ही मेरा अनन्तकाल आनन्द में बीतेगा ऐसा जिसका दृढ़ निर्णय हो गया है, घरमें रहते हुए भी उसका चित्त घरमें नहीं है। घरमें क्या संसारमें नहीं है। चित्त तो परमात्मतत्त्वमें है, कारणसमयसारमें है।

प्रमत्त अवस्थामें भी ज्ञानीकी परमोपेक्षा— भैया! परम उदासीन होनेपर भी यह ज्ञानीसंत जिस समागममें रह रहा है, जिस व्यवहारमें रह रहा है— क्या वहां जीतोड़ बात करेगा, क्या प्रेमालाप न करेगा? क्या सबको यों कहेगा कि तुम सब विनाशीक हो, असार हो, भिन्न हो? यद्यपि वह कहता नहीं है किसीसे, पर चित्तमें सब जानता है। और कहो कुछ उस ज्ञानीको यह विदित हो जाय कि हमारे घरके लोगोंको मित्रोंको यह विदित हो गया है कि मैं विरक्त हो गया हूं तो कहो उनका मन रखने के लिए पहिलेसे भी अधिक प्यारपूर्वक बोले, लेकिन यहां तो मामला ही उलट चुका है। दृष्टि तो स्वरूपविकासकी ओर लग गयी। जिस ज्ञानी ने अध्यात्मके सारका निश्चय किया है—क्या है अध्यात्मतत्त्व? केवल

ज्ञानमात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना- यह मेरा सर्वस्व वैभव है—इतना ही मात्र मैं हूं, इससे अतिरिक्त अन्यत्र मैं कहीं कुछ नहीं हूं, न मेरा कहीं कुछ है, ऐसे चैतन्यस्वभावमात्र अपने तत्त्वका जिसने निश्चय कर लिया है और जो यम नियमकर सहित है, ऐसा पुरुष तो इन समस्त क्लेशजालोंको जड़से उखाड़ देता है।

यम और नियम— साधु पुरुष यम और नियमकी साधनामें बहुत सावधान रहते हैं। और सावधानी क्या? जिसको भीतरमें ज्ञानकला जग गयी उसको यम नियमका पालन करना तो सहज हो जाता है जिसको आत्मीय आनन्दका अनुभव हो गया है ऐसे पुरुषको बाह्यपदार्थोंका परित्याग, बाह्यपदार्थोंकी उपेक्षा ये सब सुलभ हो जाते हैं। यम कहते हैं यावत् जीवन विषय-कषायका त्याग करनेका और नियम कहते हैं किसी समय की अवधि लेकर त्याग करनेको। जैसे किसीने प्रतिज्ञा ली कि दस लाक्षणी के दिनोंमें शुद्ध ही खाऊँगा और जो प्रतिमाधारी पुरुष है उसको यावत् जीव शुद्ध खानेका संकल्प है। यावत् जीव जो त्यागका संकल्प है, प्रवृत्ति है उसको तो कहते हैं यम और कुछ समयकी अवधि लेकर कोई प्रतिज्ञा निभाना इसको कहते है नियम। नियमकी अपेक्षा यममें बल बहुत है। दस लाक्षणीके दिनोंमें तेरसको भोजन करके चौदसको आहारकी प्रतिज्ञा लेंगे उपवासकी तो तेरसको ही यह दिमागमें है कि आने तो दो पूर्णिमाका दिन। तो जहां नियम होता है इतने समय तकके लिए मेरा अमुक वस्तु का त्याग है वहां उसके बादका संकल्प भीतर पड़ा हुआ है।

सावधि नियममें अन्तर्निहित संकल्प— एक घरमें एक सांप था, वह बड़ा सीधा था। सो बालक जब दूध पीता था तो उस रखे हुए दूधको सांप आए और खूब अच्छी तरहसे पीले। सो वह सांप बड़ा तन्दुरुस्त रहे, शांत रहे और प्रसन्न रहे। दूसरे सांपने आकर उस सांपसे पूछा यार तुम कहांसे मालटाल रोज छान आते हो? तो उस सांपने कहा—हम दूध पीते हैं इससे मोटे हो रहे हैं। बालक मुझे थप्पड़ मारता है तो उन थप्पड़ोंको मैं बराबर सहता रहता हूं और दूध पीकर चला आता हूं। दूसरा सांप बोलता है कि अच्छा हम भी ऐसा ही करेंगे। वह सांप बोला कि तुम ऐसा न कर सकोगे। ऐसा करनेके लिए बड़ा धैर्य और शांति चाहिए, क्रोधका त्याग चाहिए। दूसरा सांप बोला हम ऐसा कर लेंगे। अरे भाई तुम ऐसा न कर सकोगे। तो दूसरा सांप बोला कि १०० थप्पड़ तक क्षमा कर देनेका मैं नियम लेता हूं। अब चला वह सांप दूध पीनेके लिए। वह सांप दूध पीता जाय और वह लड़का थप्पड़ मारता जाय।

अब उसका चित्त दूध पीनेमें तो न रहा, थप्पड़ गिननेमें लग गया। वह थप्पड़ गिनता जाय, ९०, ९५, ९८, ९९ और १०० हो गए। एक थप्पड़ जब और मारा तो गुस्सेमें आकर बड़े जोरकी फुंकार मारी। वह लड़का चिल्लाकर बड़े जोरसे भागा। लोग जुड़ आए और वह सांप मारा गया।

साधु संतका विशुद्ध आशय— भैया! यममें होता है यावत् जीव विषय-कषायका त्याग और नियममें होता है किसी अवस्था तक त्याग। जो साधु संत यम और नियम दोनों प्रकारसे संयमको निरन्तर निभाते हैं, जिनका बाह्य आचरण भी अत्यन्त शांत है और अन्तरंग भी अत्यन्त शांत है ऐसे साधुजन इस क्लेशजालको क्षणभरमें नष्ट कर डालते हैं। साधुवोंकी बाह्यवृत्ति बाह्यमुद्रा शांत रहती है। किसी कारण किसी शिष्य पर कभी क्रोध भी करें तो भी उनका क्रोध ऊपरी है। भीतरके स्वभावमें प्रवेश नहीं करता। होता है ऐसा कि नहीं? होता है। आपका छोटा बालक कोई अनुचित व्यवहार करे तो आप उस बालकको डांटते भी हैं—दो एक थप्पड़ भी लगाते हैं पर आप का क्रोध ऊपरी है, भीतरी क्रोध नहीं है। कोई दूसरा आदमी थोड़ा गाली भी दे जाय तो वह दूसरे आदमीका वह भीतरी क्रोध है। इसी कारण दूसरे से लड़ाई हो जायगी।

ज्ञानीका हितकर व्यवहार— मां अपने बालकको किसी मुड़ेर पर खेलते हुए देखे तो गुस्सा करती है और गाली देती है, नाशके मेटे, होते न मर गए। कितनी ही बातें वह मां बोलती है लेकिन उस मांको कभी किसी ने बुरा नहीं कहा, हत्यारिन नहीं कहा। और कोई आदमी दूसरा कह तो दे कि तू मर न जा, इतनी बात पर कितना झगड़ा हो जाता है। यों ही गुरुजन साधुजन हैं। उन्हें क्या पड़ी है कि दूसरोंपर क्रोध करें, लेकिन जब प्यार होता है तो किसी-किसी प्रसंगमें गुरुको शिष्य पर क्रोध आता है. उसे किसी किसी बात पर गुस्सा भी करना पड़ता है। गुरुजी हमें जब कभी बुलाते थे तो मनोहर कह कर बुलाते थे, ऐ मनोहर! आना और जिस दिन यों बोलते थे "वर्णी जी आना" तो हम समझ जाते कि कोई गड़बड़ बात है। ऐसी हालत एक आध बार सालमें आ जाती थी, फिर भी वे कहते कुछ न थे, बल्कि धर्मचर्चा करने लगते थे, हम सावधान हो जाते थे। तो ज्ञानी संत साधुजनोंके अन्तरङ्गमें अन्तर नहीं आता।

साधुवोंकी मन्दकषायता व अन्तः अनुकम्पा— साधुवोंके कुछ संज्वलन कषाय रहता है। ये अनन्तानुबंधी नहीं है, अप्रत्याख्यानावरण नहीं है, तो भी संज्वलन कषाय तो छठे गुणस्थानसे लेकर ९ वें गुणस्थान तक तो

सब और १० वें में केवल संज्वलन लोभ रहता है। ऐसा मात्र संज्वलन कषायमें गुरुजन कभी क्रोध करते हैं पर संज्वलनका क्रोध ऐसा होता है जैसे पानीमें लकीर खींची जाय। पानीमें लकीर खींची जाती है और मिट जाती है। इसी तरह साधुजन बाहरमें भी शांत रहते हैं और भीतर में भी शांत रहते हैं। उन साधुवोंकी चर्चा की जा रही है। ये साधु निकट-कालमें ही संसारके समस्त जालसमूहको नष्ट कर देने वाले हैं। उनका परिणमन समाधिरूप होता है। सामायिक संयम उनके प्रकट होता है। वे साधुजन सर्व भूतोंमें अनुकम्पा भाव रखते हैं।

साधुवोंकी आहारप्रवृत्तिका प्रयोजन— ऐसे साधु भी जब क्षुधासे उनका शरीर अत्यन्त विकल हो जाता है तो अपना जीवन रखनेके लिए वे हितकारी परिमित आहार लिया करते हैं। साधुजन आहार किस लिए लेते हैं कि जीवन बना रहे। साधुजन जीवन रहे ऐसा क्यों चाहते हैं? इस प्रयोजन के लिए कि हम व्रत और तपमें समर्थ रहेंगे। किस लिए साधुजन आहार चाहते हैं कि वे अपने ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्त्वमें संयत हो लें। सब समझलो कि आहारका क्या प्रयोजन है? अनाहारस्वभावी निज अंतस्तत्त्वमें विकासका प्रयोजन है। अब जरा मोहीजनोंसे पूछ लो कि किसलिए आहार करते हो, तुम्हारा आहार करनेका उद्देश्य क्या है? तो यह उत्तर मिलेगा कि आनन्द आता है, रस आता है, अच्छा लगता है, सो मौज माननेके लिए बढ़िया सामान बनाते हैं, खाते हैं। उद्देश्यके अन्तरसे जमीन आसमान जितना अन्तर ज्ञानी पुरुष और इन मोही पुरुषोंमें हो जाया करता है। ससुरालमें गाली खूब सुननेको मिलती हैं ना। कैसी-कैसी गाली सुननेको मिलती हैं कि जिनके बोलनेमें लाज आती है। पर वहां तो बड़े प्रसन्न होकर सुन लेते हैं। अगर वहां गालियां सुननेको नहीं मिलतीं तो समझते हैं कि साले साहब नाराज हो गए हैं क्या? उतनी ही गालियां घरमें कोई दे दे तो कहीं लड़ाई हो जाय? तो उद्देश्यके अन्तर में सारे अन्तर आ जाते हैं।

प्रयोजनकी सिद्धि— अनाहारस्वभावकी सिद्धिका उद्देश्य रख कर जो साधु आहारमें प्रवृत्त होते हैं वे परिमित अल्प आहार करते हैं, उनका निद्राप्रमाद नष्ट हो जाता है। ऐसे ही साधु पुरुष संसारके सारे क्लेशोंको नष्ट करते हैं। अतिम आचार्य संतोंका यह संदेश है कि देखो भक्त श्रद्धालु पुरुषकी अंगुलियोंसे दिये गए भोजनको साधु ग्रहण करते हैं और ज्ञान-प्रकाशमय आत्माका ध्यान किया करते हैं, तपको तपा करते हैं। ऐसे तपस्वी साधु पुरुष ही मुक्तिको प्राप्त करते हैं। इस कारण हे कल्याणार्थी मुमुक्षु पुरुषो

सर्व प्रकारका उत्साह बनाकर, प्रयत्न बनाकर सर्व परसे विरक्त होकर एक मात्र निज शुद्ध स्वच्छ ज्ञानमात्र निष्कलंक इस आत्मतत्त्वकी उपासना करो और ये सब समितियां पालते हुए ध्यान रक्खो कि मुझे तो परमार्थस्वरूप निज अंतस्तत्त्वमें प्रवेश पाना है। ऐसा ध्यान रखकर जो साधुजन समिति में प्रवृत्त होते हैं वे साधु पुरुष निकट कालमें ही सर्वक्लेशजालोंसे दूर हो जाते हैं।

स्वभावविरुद्ध प्रवृत्तिपर खेद— हम आप सब जीवोंका स्वरूप प्रभु की तरह अनन्त आनन्दका निधान है, किन्तु एक अपने इस स्वरूपका भान न होनेके कारण इन्द्रियके विषयोंमें यह भटक रहा है। धन जैसी तुच्छ चीज जिसका मूल्य कंकड़ पत्थरकी तरह है इसको यह हृदयसे लगा रहा है। कहां तो सारे विश्वको जाने देखे, ऐसी कला वाला है यह आत्मा है और कहां यह स्वरूपविरुद्ध नृत्य कर रहा है ? इन रूपी पदार्थोंमें जो अपने स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न है, इन पुद्गलोंसे इस आत्माका रंच भी नाता नहीं है, पर कैसा पागलपन छाया है कि यह जीव अपने महत्त्वको नहीं चूक सकता कि मैं इतना वैभवशाली हूं और निजकी ओरसे मुख मोड़कर दीन बनकर भिखारीकी तरह परपदार्थोंकी ओर निगाह लगाये हुए है। रात दिन धनके सपने हैं। रात दिन इस लोकमें इस मायामय स्वरूपमें मेरी इज्जत बन जाय, इसका ध्यान है। अरे मूढ़ आत्मन ! इस लोकमें तेरेको पहिचानने वाला है कौन, जिसके आगे तू नाच नाचने का संकल्प कर रहा है।

प्रभुकी विचित्र लीला— अहो ! इस प्रभुकी विचित्र लीला है। यह बिगड़ता है तो पूरा बिगड़ कर बना देता है और बनता है तो पूरा बनकर बना देता है। ऐसा हम आप प्रभुवोंका महात्म्य है। कहीं वृक्ष बन जाय, कहीं आग पानी बन जाय, कीड़ा मकौड़ा बन जाय। कहां तो है त्रिलोकोत्तम तत्त्व चित्स्वभाव और कहां हो रहा है ऐसी दरिद्र योनि कुलोंको उत्पन्न होने का परिणमन ? यहां बिगड़ रहा हो कोई रईस आदमी क्रोधमें हो तो नौकर चाकर कहते हैं कि अभी इसे मत छेड़ो, यह क्रोधमें है, बिगड़ रहा है, यह बिगड़ेगा तो हम लोगोंका बिगाड़कर देगा। अब मत छेड़ो इस रईसको। ऐसे ही यह प्रभु इस समय बिगड़ रहा है। बिगड़ रहा है तो ऐसा भयंकर बिगड़ रहा है कि कीड़ा मकौड़ाकी तो बात ही क्या कहें—यह मनुष्य शरीरमें भी है तो क्या यहां कम बिगड़ा हुआ है ?

वर्तमान विवशता— भैया ! क्या करे यह जीव, कोई शेर किसी कठघरेमें बंद हो जाय तो वहांसे कैसे निकले, अपना चित्त मसोस कर रह

जाता है। ऐसे ही यह अन्तरात्मा ज्ञानी साधु संत देहके कठघरेमें बंद है तो क्या करे अपने चित्तको मसोस कर रह जाता है। साधु संतोंको आहार करना पड़ता है। वह आहार कुछ प्रसन्न होकर नहीं किया करते यह खेद मानकर किया करते हैं कि अब पुद्गलोंमें, विषयोंमें सिर मारना पड़ेगा, उपयोग लगाना पड़ेगा, अपने स्वभावसे भ्रष्ट होकर गंदी वासनाओं में जाना पड़ेगा। उन्हें इसका खेद होता है। ये साधु पुरुष यों निर्मल परिणामों सहित अपनी प्रवृत्तियोंका पालन करते हैं, करना पड़ रहा है। इच्छा तो केवल उनकी एक यह ही है कि वे अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें निरन्तर निरत रहा करें। इसके अतिरिक्त उन्हें और किसी चीजकी कामना नहीं है।

परमार्थ साधुता— गृहस्थ लोग किसलिए साधुवोंके उपासक होते हैं ? अपनेमें साधुता पानेके लिये। साधुवोंकी सच्ची उपासना यही है कि साधुवोंके चलते हुए मार्ग पर चलनेकी उत्सुकता रहना और अनासक्तिसे मार्गपर चलना, किन्तु इस मार्ग पर चलना तब हो सकता है जब कि पहिले बुद्धिमें यह बात आये कि सोना चांदी, रत्न, जवाहरात, पत्थर मिट्टी--ये सब मेरेसे भिन्न हैं। ये पदार्थ तो व्यवहारमें इज्जत बनानेके कारण है, पर लोकव्यवहारकी इज्जत भी तो आफत है, मायारूप है, परमार्थ सार उसमें कुछ नहीं है, ऐसा समझकर पहिले अपनेको विविक्त देखलो। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र हूं। इसके दर्शन कर लिये तो आपने सब कुछ कर लिया। एक यही काम न किया तो कुछ भी न किया।

गुरुभक्ति— इस मनुष्यभवमें आकर जो आत्महित करते हैं, जो साधुसंतोंके उपदेशोंको पढ़ते हैं, और विवेकमें आते हैं वे धन्य हैं। कैसे कैसे उनके ग्रन्थ हैं ? कैसा-कैसा उन्होंने तत्त्व मर्म बताया है ? करणानुयोग के ग्रन्थ, द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ, इन सब ग्रन्थोंमें जब प्रवेश होता है तो ऐसी भक्ति जगती है कि अहो कुन्दकुन्दाचार्यदेव, हे अमृतचन्द्रसूरि, समन्तभद्र आदिक तुम यदि अब होते तो आनन्दके अश्रुवोंसे तुम्हारे पैर पखार डालते। तुम्हारी चरणरजको अपने मस्तकमें लपेटकर अपने आपको पवित्र बना लेते। उन साधु संतोंकी वाणी हमारे हृदयमें घर कर जाय इससे बढ़कर तीन लोकमें हम और आपका कोई वैभव नहीं है। "चक्रवर्ती की सम्पदा इन्द्र सारिखे भोग। काकवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग॥"

समागमके सदुपयोगका ध्यान— भैया ! यह समागम क्या है ? आफत है। मिला है तो इसका सदुपयोग करो और अपने आपके अन्तर में बसे हुए इस सहजज्ञानस्वरूप प्रभुकी उपासना करो। ऐसा करनेमें ही

अपना हित है। और बातोंका भ्रम छोड़ दो, करना कुछ पड़े पर अन्तरमें ज्ञान सही रक्खो तो निकट भविष्यमें कभी संसारसे पार हो जावोगे। यदि अन्तरका ज्ञान न रहा तो फिर संसारमें जन्म-मरणके चक्र काटने पड़ेंगे।

गृहस्थोंका कर्तव्य— गृहस्थ लोगोंके ६ कर्तव्य हैं। देवोंकी पूजा करना, पर देवोंकी पूजाके ढंगमें थोड़ी देरमें प्रभुके गुणोंपर दृष्टि गयी तो थोड़ी ही देर बाद अपनेको ज्ञात कर लिया कि ओह यह तो स्वरूप मेरा है। मैं भी तो आनन्दघन हूं। कहां क्लेश है? गुरुवोंकी उपासना करें तो ऐसे विश्वासके साथ करें कि हमारे हिततम यदि कुछ हैं तो ये साधुसंत हैं और उनके सत्संगमें रहें, स्वाध्याय करें वह आत्मकल्याणकी दृष्टि रख कर करें, स्वाध्याय करें वह आत्मकल्याणकी दृष्टि रखकर करें। दुनियांमें किसको हम यह बतावेंगे कि मैं इसका जाननहार हूं, अरे यह तो महाविष है। मैं कहां तक दृष्टि रख सकूं? इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए ज्ञानमें स्वाध्यायमें निरत रहें। संयम—इन्द्रियका संयम, जीवरक्षाका संयमकर्तव्यको निभावो और अपनी इच्छा होती है संसारके कार्मोंके करने की, विषयोंके भोगोंकी, उन इच्छावोंकी रस्सियां काटते रहें। ऐ इच्छावों! तुम यदि आई हो तो तुम्हें लौटना ही पड़ेगा। तेरा परिहार करके मैं अपने ज्ञानस्वरूप में रमूँगा और रोज-रोज दान अथवा समय-समय पर त्याग, यह भी इस आत्मकल्याणके लिए बहुत आवश्यक चीज है। जब तक परद्रव्यों में पुद्गलमें यह मेरा कुछ है, इसीसे मेरा बड़प्पन है, यह ही हितकारी है ऐसी आसक्ति रहेगी तो धर्मके पात्र नहीं हो सकते हैं। अपना गृहस्थधर्म निभायें और परोक्ष गुरुवोंकी उपासनासे व प्रत्यक्षगुरु कहीं मिल सकें उन प्रत्यक्ष गुरुवोंकी उपासनासे अपना जीवन सफल करें।

पोथइकमण्डलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा ॥६४॥

समितिके अधिकारी उपेक्षासंयमी और अपहृतसंयमी— व्यवहारचारित्र अधिकारमें पंचमहाव्रत और ईर्या भाषा ऐषणा इन तीन समितियों का वर्णन करने के पश्चात् अब आदान निक्षेपणसमितिका स्वरूप कहा जा रहा है। पुस्तक कमण्डल आदिक ग्रहण करना अथवा रखना इन कार्यों में जो उनके प्रयत्नका परिणाम है उसका नाम आदाननिक्षेपणसमिति है। साधुजन दो प्रकारके होते हैं— एक उपेक्षासंयमी, एक अपहृतसंयमी। उपेक्षासंयमी साधु वे हैं जिनको सर्वपदार्थोंमें परिपूर्ण उपेक्षा है, जो अपने आत्मतत्त्वके चिंतन ध्यानमें रत रहा करते हैं। जिनको विहार

आदिकसे कोई प्रयोजन नहीं है। शुद्धोपयोगके विलासमें यथापद रहा करते हैं, ऐसी परम योग्यता वाले साधु उपेक्षासंयमी कहलाते हैं। अपहृत संयमी वे हैं जिनका शुद्धोपयोगमें टिकाव नहीं हो पाता है, तो अन्य शुभोपयोगसम्बन्धी कार्य जिन्हें करने पड़ते हैं। विहार करना, उपदेश आदिक देना, कमंडल, पिछी और शास्त्रका लेना धरना उठाना किन्हीं भी व्यवहारके कार्योंमें जो रहते हैं उन्हें कहते हैं अपहृतसंयमी।

उपेक्षासंयमका निर्देशन— उपेक्षासंयमका अर्थ यह है कि जिसका अंतरंगमें परम उदासीनताका परिणाम रहता है, परम उपेक्षा रहती है और इस उपेक्षाके कारण अपना उपयोग अपनेमें संयत रहता है उन्हें कहते हैं उपेक्षासंयमी। उपेक्षासंयमी साधुसंतोंको पुस्तक कमण्डल आदिक की आवश्यकता नहीं है। बाहुबली स्वामीका नाम किस संयमीमें रक्खा जा सकता है? उपेक्षासंयमीमें। भरतचक्रवर्ती साधु हुए, उनका नाम उपेक्षासंयमीमें रक्खा जा सकता है। जिनको आभ्यंतर उपकरण निज सहजस्वरूपका ज्ञान होता है, बाह्य उपकरण जहां नहीं है वे हैं उपेक्षासंयमी। कैसा है यह सहजबोधका उपकरण? यह निज परमतत्त्वके प्रकाश करनेमें समर्थ है।

निर्विकल्पसमाधिका मूल आत्मज्ञानानुभव— साधुका प्रयोजन है निर्विकल्प समाधि। निर्विकल्प समाधि वास्तविक वहां ही होती है जहां आत्मतत्त्वके स्वरूपका अनुभव बन रहा हो। आत्मतत्त्वके अनुभवके बिना जब कभी भी स्थिति किन्हीं हठयोगोंके द्वारा निर्विकल्प समाधि जैसी कल्पित बनती हो तो वहां भी परमार्थतः निर्विकल्प समाधि नहीं है। वहां भी अन्तरवृत्तिमें कोई विकल्प चल रहा है। जैसे कि एक कथानक है कि एक प्राणायामयोग साधने वाला कोई संन्यासी था। जो २४ घंटेकी समाधि लगाया करता था। उसका देह सूनासा हो जाय। साधुको मिट्टीमें गाड़ दीजिए, चारों तरफसे छिद्र बंदकर दीजिये, ऐसी स्थितिकी समाधि वह संन्यासी लगाया करता था। राजाने कहा महाराज तुम अपनी २४ घंटेकी समाधि लगावो। उसके बादमें तुम जो चाहोगे सो मिलेगा। अब उसने सोच लिया कि हमें राजासे क्या लेना है। उसने समाधि २४ घंटेकी लगायी और वह क्या मांगेगा सो अंतमें वह एकदम कह देगा। उसने २४ घंटेकी समाधि लगायी और समाधि २४ घंटेमें भंग होने पर एकाएक बोल उठा लावो काला घोड़ा। उसने काला घोड़ा ही लेनेका संकल्प किया था और उस समय चित्तवृत्तिमें यह संकल्प ऐसा छुपा हुआ बना रहा कि जिसका वह भी पता नहीं कर सका, पर ऐसा संकल्प रहा आया।

ज्ञानानुभूति बिना केवल चित्तनिरोधसे परमार्थ निर्विकल्प समाधि का अभाव— जिस समय यह अन्तरात्मा अपने ज्ञानद्वारा केवल जानन स्वरूपको ही निरखता हुआ, अपनेको ज्ञानमात्र ही अनुभव करता है—ऐसी स्थितिमें हो तब चूँकि जानने वाला भी ज्ञान है और जाननमें जो रहता है, वह भी ज्ञान है। सो जब ज्ञाता और ज्ञेय जहां दोनों एक हो जाते हैं परमार्थसे निर्विकल्प समाधि वहां है। हठयोग द्वारा भले ही श्वास नाड़ी का अवरोध हो, किन्तु वहां ज्ञान शून्य तो हो नहीं जाता। ज्ञानमय यह आत्मा ज्ञानसे रहित त्रिकाल नहीं हो सकता। कुछ जानता तो है ही। आत्मज्ञान बिना कुछ अट्ट सट्ट जानता रहता है, तो कोई जब केवल ज्ञान-प्रकाशको जान रहा है तब तो वहां निर्विकल्प समाधि होती है और ज्ञान-प्रकाशका जानन न हो रहा हो तो वहां कितनी भी चित्तवृत्ति रुद्ध हो जाय, तथापि वह निर्विकल्प समाधि परमार्थसे नहीं हो सकती।

उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग— उपेक्षा संयमी जीव परम उत्सर्ग मार्गका अनुसरण करता है। मार्ग दो प्रकारके हैं—उत्सर्ग मार्ग और अपवादमार्ग। साधुवोंका उत्सर्ग मार्ग तो यह है कि मन, वचन, कायकी चेष्टावोंकी प्रवृत्ति बंद करें। परम उपेक्षा संयममें वर्तना हो, आहार विहार विलास समस्त क्रियाएँ जहां न रहें, केवल आत्मस्वभावकी उपासना चले यह तो है उत्सर्ग मार्ग। साधुजन इसही मार्गका पालन करनेके लिए निर्ग्रन्थ होते हैं, किन्तु यह बात बड़ी कठिन है ना, किन्तु आरब्ध योगको यह बात कठिन है। सो जब उत्सर्गमार्गमें नहीं रह पाते हैं और उसे आवश्यकता होती है कि वह आहार करे, विहार करे, तो आहार विहार करता है, यह है अपवाद मार्ग। यहां अपवादमार्गका अर्थ खोटा मार्ग न लेना, गिरा हुआ ऐसा अर्थ न करना, किन्तु सिद्धान्तके अनुकूल शुद्ध विधि से जो चर्या की जाय, विहार किया जाय, यह है साधुवोंका अपवाद मार्ग।

सम्यग्दर्शनके अष्टाङ्गोंकी प्रवृत्तिमें उपेक्षासंयम— साधु जनोंसे पूछो क्या तुम साधुविधिसे आहार विहारादिकी चर्या करते रहनेके लिए ही साधु हुए हो? तो उनका उत्तर क्या होगा? उनका उत्तर होगा कि करना पड़ रहा है, हम इसके लिए साधु नहीं हुए हैं, हम तो उत्सर्गमार्गमें रहनेके लिये यों चल रहे हैं। साधुजन इतनी उपेक्षाके परिणाम वाले होते हैं कि वे सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंका पालन करते हुए भी; शंका न करना, इच्छा न करना, धार्मिकजनोंमें ग्लानि न करना, कुपथमें मुग्ध न होना, धार्मिकजनों के दोषको दूर करना, धर्मी पुरुषोंसे प्रेमभाव बढ़ाना, वात्सल्य करना, धर्म से गिरते हुए अपने आपको अथवा अन्य पुरुषोंको धर्ममें स्थित करना,

ज्ञानकी प्रभावना करना— इन ८ अंगोंका पालन करते हुए भी साधुजनोंकी अन्तरध्वनि यह है कि हे अष्टांग सम्यग्दर्शन ! मैं तुम्हारा तब तक पालन कर रहा हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे प्रवृत्तिरूप तुम अष्टाङ्गोंसे मुक्त न हो जाऊँ।

सम्यग्ज्ञानके अष्टाङ्गोंकी प्रवृत्तिमें उपेक्षासंयम— ज्ञानाचारमें साधुजन अष्टांग आचरण करते हैं। शुद्ध शब्द पढ़ना, शुद्ध अर्थ करना, शब्द और अर्थ दोनोंकी शुद्धि रखना, अपने गुरुजनोंका बहुमान करना, अपने को जिससे शिक्षा मिली हो उनका नाम न छिपाना, किसीमें ऐब न लगाना आदिक जो ८ प्रकारके ज्ञानाचार हैं उन ज्ञानाचारोंका पालन करते हुए भी साधु यह चिंतन कर रहा है कि हे अष्टांग ज्ञानाचार ! मैं तुम्हारा तब तक पालन कर रहा हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे मैं मुक्त न हो जाऊँ।

चारित्राचारमें उपेक्षासंयम— शुद्ध आचरण करके भी साधु चाहता है कि मुझे यह भी आचरण न करना पड़े, और क्या करना पड़े ? मैं केवलज्ञानमात्र ज्ञानप्रकाशमें स्थिर रहूं। वे चारित्रका बहुत-बहुत आचरण करते हैं। समितियोंका पालन करना महाव्रतोंका पालन करना, गुप्तियोंका धारण करना, उसके प्रति भी साधुवोंका यह परिणाम है कि हे नाना विधि चारित्राचार ! मैं तुम्हारा तब तक पालन करता हूं, तब तक तुम्हारा मैं सहारा लेता हूं, जब तक तुम्हारे ही प्रसादसे मैं इनसे मुक्त न हो जाऊँ।

ज्ञानीकी प्रवृत्ति निवृत्तिप्रयोजिका— देखो भैया ! सम्यग्दृष्टि जीव की प्रवृत्ति निवृत्तिके लिए होती है, एक यह नियम बना लो। चाहे वह चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि हो और चाहे पंचमगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि हो, प्रवृत्ति तो इन तीनोंमें ही है ना। सप्तमगुणस्थान में तो प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि वहां प्रवृत्ति नहीं रही, वह अप्रमत्त विरत साधु है। ये तीनों प्रकारके सम्यग्दृष्टिजन जो कुछ भी प्रवृत्ति करते हैं वह निवृत्तिके लक्ष्यसे करते हैं। उनकी प्रवृत्तियां उनके पदोंके अनुसार हैं। साधुजन १२ प्रकारके तप भी करते हैं। अनशन, ऊनोदर, अन परिसंख्यान, रस परित्याग, बड़े-बड़े काय क्लेश, गरमीमें पर्वतके शिखर पर तप करना, शीत कालमें नदी के तट पर ध्यान लगाना नानाप्रकार के तप भी करते हैं। अन्तरङ्ग तप भी करते हैं, इस पर भी उन साधुवोंकी यह तपमें प्रवृत्ति उन सब प्रवृत्तियोंसे निवृत्त होनेके लिए है। इतना मंत्र जिस साधुने पाया उस साधुके तो विडम्बना ही रहती है।

तपस्याकी प्रवृत्तिमें उपेक्षासंयम— भैया ! अंतस्तत्वको टटोलते जाइए। क्या साधु तपके लिए तप कर रहा है ? मैं बड़ी गरमीमें तपस्या

करूँ, इसके लिए वे तप कर रहे हैं क्या? इसके लिए तप करें अथवा लोग मुझे तपस्वी जानें इसके लिए तप करें अथवा मैंने साधुपद लिया इसलिए ऐसा तप करना चाहिए— ऐसा भाव रखकर तप करे, तो वह सब उद्देश्य विहीन कामकी तरह साधु तपस्या करता है। साधु तप इसलिए करता है कि ऐसे क्रियमाण तपसे भी मैं सदा कालके लिए मुक्त हो जाऊँ। मुझे कितनी मुक्ति मिली है अभी? मुक्ति मायने छुटकारा। घरसे मुक्ति पा ली है। आरम्भ परिग्रहसे मुक्ति पा ली है, वस्तु आदिकका धरना उठाना सारे दंदफंदोंसे मुक्ति पा ली है। अब इन तपस्यावोंके कार्योंसे भी हे नाथ! इनसे मुझे मुक्ति लेना है। उस शुद्ध शुद्धज्ञायक स्वरूप निज अन्तस्तत्त्वमें ही विश्रांत होकर अपने शुद्धस्वरूपको वर्ता करूँ। ऐसा ही उद्देश्य है साधु पुरुषका।

श्रावककी प्रवृत्तिमें भी उपेक्षाकी झलक— अब जरा और नीचे चलिए। श्रावक, देशसंयत, पंचम गुणस्थान वाले वे भी जितनी प्रवृत्ति रखते हैं वे उस प्रवृत्तिको करनेके लिए प्रवृत्ति नहीं रख रहे हैं, किन्तु इनसे मैं मुक्त हो जाऊँ, इसके लिए करते हैं। जिसे फोड़ा हो जाता है पैरमें, हाथमें वह उस फोड़े पर मलहम पट्टी लगाता है। उससे पूछो क्या तुम पट्टी लगानेके लिए पट्टी लगा रहे हो अर्थात् मैं रोज ऐसी ही रोटीन रक्खूँ कि सुबह हो, दोपहर हो और मैं पट्टी लगाया करूँ। अपने जीवनमें मैं इस टाइममें रोज अलसी पट्टी कर लिया करूँ, क्या इस अलसी लगानेके लिए पट्टी लगानेके लिए वह अलसी पट्टी लगा रहा है? नहीं। वह लगाता हुआ यह कह रहा है कि हे अलसी पट्टी! मैं तुम्हें तब तक ले रहा हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे तुमसे मुक्त न हो जाऊँ।

निवृत्तिके लिये प्रवृत्ति— देखलो अनुभवकी बात है। किसीको बुखार आ रहा है, वह कड़वी दवा पी रहा है, क्या वह दवा पीने वाला दवा पीते रहनेके लिए दवा पी रहा है? नहीं। उसका अन्तरमें विचार है कि हे दवा! मैं तुम्हें तब तक पी रहा हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे तुम मुझसे छूट न जावो। बड़े पुरुषोंकी बात स्पष्ट समझमें आती है बड़प्पनमें आने पर। फोड़ा फुंसीकी बात, बुखारकी बात ये दृष्टान्त जैसे इतना घर कर जाते हैं, ऐसे ही ज्ञानयोगके प्रेमियोंके हृदयमें यह बात पूरी तरहसे उतर जाती है कि साधुजन तपसे छुटकारा पानेके लिए तप किया करते हैं।

मुक्तिविधिके मार्गमें— कोई कहे कि भाई मलहम पट्टीसे छुटकारा पानेके लिए तुम पट्टी लगाते हो तो अभीसे मत लगावो, तो क्या यह बात निभ जायेगी? उस मलहम पट्टीके प्रसादसे ही मलहम पट्टी छूटेगी। यों

ही कोई कहे कि तपस्यासे छुट्टी पाने के लिए ही तपस्या चाहते हो तो अभीसे ही छुट्टी कर दो, तो यह बात नहीं बनेगी। उस चारित्रके प्रसादसे ही, तपश्चरणके प्रसादसे ही उस शुभोपयोगकी वृत्तिसे छुटकारा मिल पायेगा। मैं यों तो शुद्धापयोगमें रहकर अशुद्ध वृत्तिमें रहकर बने रहें तो तप तो छूटा ही हुआ है। पर वह मुक्तिकी विधि नहीं है, वह तो संसारमें रुलते रहनेका उपाय है। एक शायरने कहा है—"गिरते हैं सहसवार जो मैदाने जंग चढ़े। वे तिफ्ल क्या गिरेंगे जो छुटनोंके बल चलें॥"

साधुपदमें उत्सर्ग व अपवादका योग— साधुजन परम उपेक्षा संयम में रहते हैं। उनके कमण्डल पिछीकी जरूरत ही नहीं है। आभ्यंतर उपकरण तो उनके ज्ञानमें अन्तरङ्गमें ज्ञानवृत्तिका बना रहा करता है। उपेक्षासंयम न रहनेपर अपहृतसंयममें लगना पड़ता है। क्या कमण्डलसे ज्ञान निकलता है ? क्या पिछीसे ज्ञान निकलता है ? नहीं निकलता है। उसमें से कोई सिद्धि है क्या ? अरे अचेतन पदार्थ हैं। यह ही चीज दुकानमें धरी थी। पंख धरे हों उनको विधिसे पिछी बनालो। यह कमंडल दुकानमें भी बिकता है। इसमें कोई ज्ञान भरा है क्या कि चारित्र भरा है कि श्रद्धा भरी है ? क्या भरा है ? इसके लेनेकी धरनेकी, उठानेकी संभालनेकी संयमी पुरुषको कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो शुद्धोपयोगके अनुभव रूपी सुधारसमें मग्न है। लेकिन जो आहार विहार न करें, हिलेडुले नहीं अपने ज्ञानध्यानमें ही रत रहें उन उपेक्षासंयमियोंकी बात कही जा रही है। जैसे बाहुबलिका दृष्टांत है। ऐसा बन सके कोई तो क्या जरूरत है पिछी और कमण्डल की ? किन्तु जब साधु उपेक्षासंयममें रह नहीं सकता, जब उसे आहार विहार करना पड़ेगा तो वहां आज्ञा नहीं है कि तुम पिछी कमंडलके बिना आहार विहार करो।

दीक्षाविधिमें उपकरणकी आवश्यकता— यदि कोई साधु संयम के उपकरणके बिना आहार विहार करेगा तो वह पाप करता है, धर्मके विरुद्ध चलता है। आदाननिक्षेपणसमितिमें परमार्थ से तो आत्मा अपने ज्ञानप्रकाशका आदान कर रहा है और अपने विकारभावका परिहार कर रहा है, और अपहृतसंयमी साधुजन समितिपूर्वक अपने ज्ञान संयम शौचके उपकरणोंको विधि सहित धारण करता है, उठाता है, रखता है, यह है उसकी व्यवहारईर्यासमिति। यह भी बात ध्यानमें लेना चाहिए। जब भी कोई पुरुष साधु होता है तो साधु होते समय इन उपकरणोंको ग्रहण करता है। कोई पहिलेसे ही यह सोचले कि हमें तो उपेक्षासंयमी बनना है। मैं क्यों पिछी कमण्डल लूँ, हो जाय निर्ग्रन्थ; ऐसा ही बस खड़ा रहूंगा, ऐसी

आज्ञा नहीं है। क्या दावा है कि वह उपेक्षासंयमी बना रहेगा? दीक्षा लेते समय इन उपकरणोंको ग्रहण करना आवश्यक है। इसके बाद उपेक्षासंयम हो जाय, न रहें ये उपकरण, कोई उठा ले जाय तो फिर आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

उपेक्षासंयमी परमयोगियोंका उपकरण— उपेक्षासंयमी साधुपुरुष पुस्तक कमण्डल आदिके परिग्रहसे दूर रहते हैं, इसी कारण वे परम जिन मुनि एकांतसे निस्पृह हैं, पूर्ण इच्छारहित हैं, इस कारण वे बाह्यउपकरणों से भी दूर हैं। वे बाह्यउपकरणोंसे निर्मुक्त हैं। उपेक्षासंयमी पुरुषके समीप ये उपकरण रखे हुए हों तो भी वे उनसे निर्मुक्त हैं। यदि न रखे हों तो बाहरसे भी निर्मुक्त हैं और अन्तरसे भी निर्मुक्त है। उनके तो परमार्थ उपकरण है। उपाधिरहित सहज चैतन्यस्वरूपका सहजज्ञान। उपेक्षासंयमी परमयोगीश्वर निजके ज्ञानभाव द्वारा अपने ज्ञानस्वभावमें ही सदा संतुष्ट रहा करते हैं। उनके उपकरण हैं अभिन्न। आत्मासे भिन्न और उसमें भी अचेतन, ये बाह्य उपकरण उपेक्षासंयमके उपकरण नहीं हैं। उनको तो एक सहज ज्ञान भावके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है।

अपहृतसंयमी योगियोंके उपकरण— अपहृतसंयम वाले साधुसंतों को आवश्यकता है परमागमके अर्थका बारबार प्रत्यभिज्ञान करने की। इस परमागमके अर्थकी बारबार प्रत्यभिज्ञान करनेके लिए उपकरण चाहिए, वह उपकरण है शास्त्र, पुस्तक। शास्त्रको ज्ञानका उपकरण बताया गया है। चूँकि यह जीवन आहार बिना नहीं टिक सकता, अतः आहार करना आवश्यक है; सो वे एषणासमितिपूर्वक आहार किया करते हैं। पर आहार करनेके परिणाममें तो उन्हें मलमूत्र भी होगा ना, तो मलमूत्र करने की अशुद्धिको दूर करनेके लिए शौचका उपकरण भी रखते हैं। वह शौचका उपकरण हुआ कमण्डल, जो शरीरकी विशुद्धिका उपकरण है। इन दो उपकरणोंके अतिरिक्त तीसरा उपकरण जो अत्यन्त आवश्यक है। कदाचित् साधु पुस्तक और कमण्डल के बिना भी रह सकता है, चल सकता है, विहार कर सकता है किन्तु तृतीय उपकरण जो संयमका उपकरण कहलाता है उस पिछीके बिना विहार नहीं कर सकता। यों तृतीय उपकरण है पिच्छिका। ये तीन बाह्य उपकरण हैं।

साधुका ज्ञानोपकरण— साधु संत ज्ञानका उपकरण शास्त्रको रखते तो हैं पास, किन्तु शास्त्रमें उनकी ममत्व बुद्धि नहीं होती है। कदाचित् शास्त्रमें ममत्वबुद्धि हो जाय, जैसे कि साधारण जनोंको गृहस्थके साधनोंके संचयमें रखनेमें ममत्वबुद्धि होती है, अथवा एक ही रक्खें और ऐसा

ख्याल आये कि यह मेरा ग्रन्थ है। न मिले वह ग्रन्थ तो कहो विवाद कर डालें, यदि ऐसा परिणाम हो गया तो वह शास्त्र साधुका उपकरण नहीं रहा। साधुवोंका शास्त्र उपकरण तब तक है जब तक निर्भयता है। कोई पुरुष यदि किसी साधुके शास्त्रको चाहे कि लेकर पढ़ लें कहे कि महाराज यह तो बड़ी उत्तम चीज है, क्या यह शास्त्र हमें मिल सकता है ? तो साधु उसके त्याग करनेमें देर न करेगा, हां हां तुम ले जावो और यदि साधु अपने अन्तरमें ऐसा अनुभव करे कि ओह यह शास्त्र मेरा है, मेरा काम कैसे चलेगा, ऐसा परिणाम आये तो फिर वह शास्त्र उसका उपकरण नहीं रहा। हम आपको तो किसी चीजके जानेमें शोकका अनुभव होता है कि हाय मेरी चीज गयी, पर उनको आनन्दका अनुभव होता है क्यों कि उनकी दृष्टि शीघ्र ही सहज ज्ञानस्वभावमें लग जाती है जिसको निरखनेके लिए स्वाध्यायका श्रम किया गया है, ऐसे साधुसंतोंके पास जो ज्ञानका उपकरण है शास्त्र, वह ज्ञानका उपकरण रहता है।

साधुका शौचोपकरण— इस ही तरह शौचका उपकरण है कमण्डलु। कमण्डलमें ममत्व हो जाय। कमण्डल को बड़ा चिकना चमकीला बढ़िया ढंगमें रखा जाय, उसको उठाने, धरने, निरखनेमें बड़ी मौजसी माने तो फिर वह कमण्डल उपकरण न रहेगा। अब तो वह ममताका साधन बन गया है। साधुसंतोंके पास कदाचित् कमण्डल भी न रहे, जंगल में हैं और उनको कमण्डल नहीं मिला तो किसी समय टूटा फूटा डबला कोई मिट्टीका कहीं पड़ा हो तो उसे उठाकर भद्भदासे पानी गिर रहा हो तो पानी लेकर वे अपनी शौच क्रिया कर सकते हैं। उनको ममत्व नहीं है। कभी न मिले इस तरहका कमण्डल तो तूमा भी जंगलमें पड़ा हो, जिसका कोई स्वामी नहीं है, वहां ही खोखला पड़ा हुआ हैं, ऐसे टूटे फूटे स्वामीरहित मिट्टीके तूमें के बर्तनको भी अस्थायीरूपसे उपयोग कर सकते हैं। वस्तु ऐसी निकट न रहनी चाहिए जिस वस्तुको असंयमीजन भी उठाना चाहें याने ख्याल करें कि मुझे मिल जाती तो अच्छा था। असंयमीजन जिस चीजको चाह सकते हैं वह वस्तु उनके एक परिग्रहमें शामिल होती है।

शौचोपकरणका उपयोग— साधुजन इस शौचके उपकरण कमण्डल से क्या उपयोग करते हैं कि जब शास्त्र पढ़ने बैठते हैं तो थोड़ा हाथ पैर धो लेते हैं, चर्याके लिए जायें तो घुटने तक हाथ पैर धो लेते हैं और ऊपर मस्तक धो लेते हैं। इतनी शुद्धि करके वे चर्या को निकलते हैं अथवा कोई चाण्डाल हत्यारा छू जाय तो उस कालमें वे खड़े-खड़े कमण्डलकी टोंटीसे

एक धार निकालकर स्नान कर लेते हैं और अन्य समयोंमें किसी और प्रकारका स्नान नहीं बताया गया है। साधुवोंका शरीर स्वयं पवित्र होता है क्योंकि उसमें रत्नत्रयका उदय, प्रकाश इतना दृढ़ है, गहरा है, चमकीला है कि जिसके कारण शरीरकी इस अपवित्रतापर भक्तजनोंका ख्याल भी नहीं पहुंचता और भक्त भी अपवित्र नहीं मानता है। तो रत्नत्रयसे पवित्र साधुवोंका शरीर साधारण शुचिके लायक रहता है। गृहस्थजनोंकी तरह नहानेकी उन्हें आवश्यकता नहीं होती है। इतनी शुद्धिके प्रयोजनके लिए उनका यह उपकरण होता है।

साधुका संयमोपकरण— संयमका उपकरण है पिच्छिका। पिच्छिका मयूरके पंखोंकी होती है। ये पंख इतने कोमल होते हैं कि जिनसे किसी भी जीवको बाधा नहीं पहुंच सकती। कदाचित् किसीकी आंखमें भी लग जाय तो उससे कोई बाधा नहीं पहुंचती। अब आप बतलावो कि मयूरपंख को छोड़कर इतना कोमल अन्य क्या पदार्थ है प्रथम तो आपको कुछ अन्य विदित न होगा कि मयूर पंखके मुकाबले कोई पदार्थ इतना कोमल और इतना गुणवान् है। कदाचित् मिल भी जाय बनावट करके यह भी साथ देखिये कि इतना सुलभ लब्ध और कुछ नहीं है। साधुजन जंगलमें तप किया करते हैं, रहते हैं। उन्हें पंखोंकी आवश्यकता हुई तो वैसे ढेरों मयूरोंके छोड़े हुए पंख पड़े रहते हैं। २०, ५० पंखोंको उठा लिया, बस उन्हीं से ही पिच्छिका बन जाती है। हजार पांच सौ पंखोंका ढेर करके पिच्छिका बनायी जाय तो उससे तो वजनके कारण कुन्थु जीवोंको बाधा सम्भव है। उसमें फिर कोमलता नहीं रहती है। ऐसे संयमोंका उपकरण पिच्छिका है।

आदाननिक्षेपणसमितिकी श्रेष्ठता— ये अपहृतसंयमके लिए तीन बाह्य उपकरण बताये गये हैं। इनको ग्रहण करनेमें और इनके रखते समय में उत्पन्न होने वाला जो सावधानीके प्रयत्नका परिणाम है उसे आदान-निक्षेपणसमिति कहा करते हैं। आदानका अर्थ है ग्रहण करना, निक्षेपण का अर्थ है धरना और उसमें जो सावधानी है उसे कहते हैं आदान-निक्षेपणसमिति। समितियां सब आवश्यक और उत्तम हैं। फिर भी उनमें यत्न करके प्रयोजनवश देखा जाय तो यह आदाननिक्षेपणसमिति इन सब समितियोंमें श्रेष्ठ है, रानी है, शोभा देने वाली है। इन समितियोंके संगसे क्षमा और मैत्रीभाव उत्पन्न होता है।

साधुमुद्रामें निर्भयता व विश्वासका स्थान— अन्य वेशभूषाके साधुवोंको देखकर लोगोंको भय हो जाता है, कोई जटा रखाये हो, कोई

भभूत रमाये हो, कोई चमीटा लिए हो, किसीके हाथमें डंडा हो, किसीके हाथमें त्रिशूल हो, कोई जगह-जगह सिंदूर लगाये हुए हो, किसी ने मोटी रस्सी कमरमें बांध ली हो, ऐसा रूप देखकर लोगोंको भय भी हो सकता है और अविश्वास भी हो सकता है। कहीं लड़ाई न हो जाय तो बाबा जी डंडा मार दें, कहीं लड़ाई हो जाने पर त्रिशूल न भोंक दे, ऐसा अविश्वास हो जाता है। परन्तु, धन्य है उन साधुसंतोंकी मुद्राको कि जिनके समीप बैठनेमें न भय है और न किसी प्रकारका अविश्वास है। जिनका नग्न स्वरूप है, वे किसीकी क्या कोई चीज चुरा सकते हैं। चुरायेंगे तो कहां रक्खेंगे। उनके पास कोई शस्त्र नहीं है, उनसे क्या भय हो सकता है? अरे जो कीड़ामकोड़ा आदि प्राणियोंकी रक्षाके लिए पिछी रखते हैं उनके परिणाममें क्या कभी यह आ सकता है कि हम इन्हें मार पीट दें? यदि वे कभी किसीको मारें पीटें और मारें पीटें ही क्या थोड़ा गाली गलौज भी दें, दूसरोंको शाप दें तो वह साधु नहीं हैं।

अन्तःसाधुता बिना विडम्बना-- एक पौराणिक घटना है कि एक नदीके तीरपर एक साधु एक शिला पर बैठकर रोज ध्यान लगाया करता था। एक बार आहार करने शहर गया, इतनेमें एक धोबी आया और उस पत्थर पर अपने कपड़े धोने लगा। इतनेमें आहार करके साधु वापिस आ गया। तो साधु महाराज कहते हैं कि इस पत्थर पर तुम कपड़े धोने क्यों आये? यह तो मेरे ध्यान करनेका आसन है। धोबी कहता है—महाराज यह बहुत अच्छा पत्थर है मेरे कपड़े धोनेका, कृपा करके थोड़े समयको आप ध्यान और जगह पर कर लीजिए। ऐसा पत्थर आसपास कहीं नहीं है। साधु बोला - हम तो इसी पर ध्यान लगायेंगे। तुम इससे हट जावो। तो धोबी बोला कि हम तो न हटेंगे। इससे सुविधाजनक और पत्थर यहां नहीं है। साधु जी थोड़ा गरम हो गये और थोड़ी हाथापाई कर बैठे। धोबीने भी जरा हिम्मत बनाकर साधुसे हाथापायी शुरू कर दी। दोनोंमें कुश्तीसी हो गयी। धोबी पहिने था तहमद, सो उसका तहमद छूट गया, नंगा हो गया। अब दोनोंमें बड़ी विकट लड़ाई हुई। साधु गुस्सेमें आकर कहता है—अरे देवतावों! तुम लोगोंको खबर नहीं है कि साधुपर कितना बड़ा उपद्रव आ रहा है? तो ऊपरसे आवाज आती है कि हम तो खड़े हैं उपद्रव दूर करनेके लिए, पर हमें यह नहीं मालूम पड़ रहा है कि तुम दोनों में से साधु कौन है, और धोबी कौन है? तुम दोनोंकी एकसी मुद्रा है, एकसी गाली गलौज, एकसी मारपीट। हम कैसे पहिचानें कि साधु कौन है और धोबी कौन है?

पिच्छिकासे अन्य भी अनेक लाभ— यह पिच्छिका केवल जीवरक्षा के काममें आये, इतना ही नहीं है किन्तु यह बहुतसी सावधानियोंको याद दिलाने वाली चीज है। जैसे किसीसे कहो कि तुम बम्बई जा रहे हो तो हमें अमुक चीज ले आना। तो वह कहता है कि हमें खबर न रहेगी। तब कहा जाता है कि तुम अपनी कमीजमें गांठ बांध लो, जब भी उठो बैठोगे तब खबर रहेगी कि अमुक चीज लानी है। यह पिच्छिका तो समस्त संयम व समस्त साधनाओंके व्यवहारको याद दिलाने वाली है। और भी देखो-- अन्य समितियोंका टाइम जुदा-जुदा होता है किन्तु आदान निक्षेपणसमिति का टाइम सदा रहा करता है। सो रहा है तो वहां पर भी, यदि करवट बदलता है तो वहां पर भी, कहीं भी वह करवट बदलता है पथरा पर, जमीन पर तो वह पिच्छिकासे साफकर करवट बदलेगा। बैठे ही बैठे कदाचित् आंखपर जीव आये अथवा किसी जगह कोई जीव काट रहा है तो प्रथम तो यह कर्तव्य है कि उस ओर ध्यान ही न जाय। काटता है काटने दो, उसे मत भगावो। नहीं तो पिच्छिकासे ही उसके शरीरका सावधानी सहित प्रमार्जन करो। पिच्छिका का उपयोग निरन्तर रहा करता है। इस कारण आदाननिक्षेपणसमितिका महत्त्व इन सब समितियोंमें अधिक है। इस समय इस प्रकरणमें श्रेष्ठता बताते हुए कहा जा रहा है कि इस समितिकी सर्वसमितियोंसे उत्तम शोभा है।

साधुमुद्राका श्रेय— भैया! साधुकी यथार्थ मुद्रासे लोगोंको बड़ा विश्वास उत्पन्न होता है। हनुमानजी की माता अंजना जिस समय हनुमान गर्भमें थे तब सासने अंजनाको निकाल दिया था यह कहकर कि यह गर्भ कहांसे आया, मेरा पुत्र तो तेरी शकल भी नहीं देखना चाहता था, उसे दोष लगाकर निकाल दिया। जब पापका उदय आता है तब कोई सहाय नहीं होता है। सबसे बड़ा पापका उदय यह है कि उसे असदाचारका दोष लगाया गया। वह अञ्जना माता पिताके नगरमें पहुंची। माता पिताने भी उसे सहारा न दिया। अंतमें वह स्त्री जंगलमें भटकती हुई जा रही थी। बड़े उपद्रव और उपसर्ग सह रही थी। अचानक ही जंगलमें एक मुनिराज के दर्शन हुए। उनके दर्शन पाकर अंजनाको इतना धैर्य जगा, विश्वास जगा, जैसे मानों मां बाप ही मिल गए हों। साधुसंतोंका सत्य सहज विश्वास हो जाया करता है। उन मुनिराजके समीप ही धर्मध्यानपूर्वक रहने लगी। पर मुनिराज वहां कहां रहने वाले थे। थोड़े ही समय बाद विहार कर गये। फिर अंजनाका उदय अच्छा था, पुण्यात्मा पुरुष गर्भमें था, मोक्षगामी पुरुष अंजनाके उदरमें था। भले ही संकट खूब आये, पर सब टलते

गये। साधु संतोंका इतना विश्वास होता है श्रावक जनोंको।

नग्नमुद्रामें निर्विकारताका दर्शन— कुछ लोग उनकी नग्नमुद्राको देखकर अटपट कल्पनाएँ करके उनसे लाभ प्राप्त करनेसे दूर रहा करते हैं। कोई कहते हैं कि यह नग्न है, ऐसे न रहना चाहिए। अरे जरा उनके अन्तरके परिणामोंको तो देखो—साधुका अंतरङ्ग परिणाम बालकवत् है। जैसे बच्चेको कुछ पता नहीं है कामका, अन्य तरहकी विडम्बनाओंका, जैसे वह बच्चा निर्विकार है ऐसे ही वह साधु पुरुष निष्काम, निर्विकार अत्यन्त स्वच्छ है। नग्नताका रूप रख लेना साधारण बात नहीं है, उद्दण्ड होकर कोई नंगा हो जाय, इसकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु नग्न होकर भी रंचमात्र भी विकार न आये और कल्पना तक भी न जगे, ऐसी मुद्राका प्राप्त होना इस लोकमें अति दुर्लभ है और साथ ही अपने ज्ञानभाव द्वारा अपने सहजज्ञानस्वरूपमें निरत रह सकें, ऐसी स्थिति पाना बहुत ही सुन्दर भवितव्यकी बात है।

साधुवोंकी उपासनीयता— शांत निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राधारी मात्र पिछी और कमण्डल ही जिनके हाथमें शोभित हो रहा है ऐसे साधु संतों को देखकर न कोई बालक डरता है, न कोई जवान डर सकता है, न कोई स्त्री भी डर सकती है, न कोई वृद्ध डर सकता है, न कोई अपरिचित पुरुष ही भय खायेगा। हां कदाचित् कोई पुरुष भय खा जाय, समझ लो जैसे बालक डर जाते हैं तो समझो कि अन्य भेषी साधुवोंका पहिले डर खाया हुआ है, इसलिए उनको देखकर डर लगता है। ऐसे परम विश्वास्य साधु संतोंके गुणों को हे भव्य जीव! अपने हृदयरूप कमलमें धारण करो, उन साधुवोंके सर्वगुणोंमें प्रीति रखने से मुक्ति लक्ष्मी प्राप्त होगी, ज्ञानका साम्राज्य मिलेगा। इसलिए सर्व प्रकारके यत्न करके तुम अपने आपको देव, शास्त्र, गुरुकी उपासनामें लगावो। अन्य किसीसे अपना हित मत मानो। ये मुनिराज आदाननिक्षेपणसमितिका निश्चयरूपसे और व्यवहार रूपसे पालन किया करते हैं। निश्चयसे तो सहजज्ञानका उपकरण रखकर समितिका पालन करते हैं और व्यवहारमें ये तीन उपकरण रखकर इनके धरने उठानेकी समितिका पालन करते हैं।

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिये परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ॥६५॥

प्रतिष्ठापना समिति— जहां दूसरेकी रुकावट न हो, ऐसे और गूढ़, सब लोगोंका जहां आवागमन नहीं, उठना बैठना नहीं है ऐसे प्रासुक भूमि के स्थलमें मलमूत्र आदिकका त्याग करना, इसको प्रतिष्ठापनासमिति कहते

हैं। सारे विसंवाद अपनेको करने पड़ते हैं भोजनके पीछे, कल्पना करो कि एक भोजनका काम अथवा अन्य श्रम न होता तो कहीं दूसरे पदार्थोंकी जरूरत न थी, और दूसरोंसे कुछ बोलने चालनेकी आवश्यकता न थी। कुछ चीज धरना, उठाना, खटपट करना आदि बातोंकी आवश्यकता न थी और मल मूत्र करनेकी भी नौबत न आती। खैर, साधारणजनों को तो भोजनकी भी चिंता न रहे तो भी वे सारी खटपट किया करते हैं। देवोंको क्या चिंता लगी है ? मनुष्यसे भी अधिक खटपट देवोंके हुआ करती है। देवगतिके जीव कितना तो घूमते हैं, विहार करते हैं, कितना वचनालाप करते हैं और कैसी कलावोंकी प्रवृत्ति करते हैं, और साधुजन आहार करके भी खटपटसे दूर रहा करते हैं, फिर भी चूँकि जब आहार करते हैं, किया है तो चलना भी होगा, वचन व्यवहार भी कुछ हद तक करना व्यवहारिक बात है। चीजका धरना उठाना भी आवश्यक है, और आहार किया तो मल मूत्र भी करना अनिवार्य हो जाता है। तो जब वे मलमूत्र करें, थूकें, नाक छिनकें अथवा शरीरका पसीना ही पोंछ कर चलें, इन सब क्रियावोंमें वे ऐसी भूमि तकते हैं जो भूमि प्रासुक हो, जहां जीव जंतुवोंको बाधा न हो। ऐसी सावधानी सहित प्रतिष्ठापनाको प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं।

देह और आत्माकी विविक्तता— यद्यपि निश्चयनयसे देखा जाय तो जीवके शरीर ही नहीं है। फिर आहारग्रहणकी परिस्थिति कहांसे हो ? जो लोग कहते हैं कि मैं आत्मा तो खाता ही नहीं हूं, उनकी बात सही है मगर किस जगह खड़े होकर यह बात बोलनी चाहिए? यह उसकी विशेषता है। जिसको स्वभावदृष्टि बन गयी है और ज्ञायकस्वभावमात्रकी अपने आपको पहिचान हुई है उसके यह बात है कि यह मैं आत्मा तो खाता ही नहीं हूं, किन्तु जो विडम्बनाएँ तो पचासों करता हो, लड़ाई झगड़े विवाद अनेक मचाता हो और गोष्ठीमें बैठकर ऐसी बातें मारे कि मैं तो खाता ही नहीं हूं, उसकी बातका कोई मूल्य नहीं है। शुद्ध निश्चयकी दृष्टिसे जीव जुदा है ना, देह जुदा है। दोनों भिन्न पदार्थ हैं। देह तो पुद्गल जाति है और शरीर चेतन जातिका है। इन दोनोंमें एकता कैसी ? शरीर तो जड़ है यह जीव जाननहार है, इन दोनोंकी एकता कैसी ? अरे जो जड़-जड़ हैं ऐसे पुद्गल परमाणु परमाणुवोंमें भी एकता नहीं होती। प्रत्येक परमाणु अपने स्वरूपसे सत् है पररूपसे असत् हैं। अपने आपके परमाणु का सर्वस्व अपने आपमें है। तब एक अणुका दूसरा अणु भी कुछ नहीं है, वे एक नहीं हो सकते, अनेक हैं। स्कंध जैसी बंधन अवस्था भी हो जाय तो भी प्रत्येक परमाणु एक-एक ही पृथक् पृथक् हैं। फिर भिन्न जातिके जो

जीव और देह हैं इनमें एकता कैसे ?

आत्माका ज्ञानज्योतिस्वरूप-- निश्चयकी दृष्टिसे तो जीवके यह दशा भी नहीं है। जो जीव देहमें आत्मीयताकी कल्पना करता है अथवा 'यह मैं हूं' ऐसा मायारूप विचार बनाता है उस देहीको 'यह मैं हूं' ऐसा मानने पर सारी विपदाएँ लद जाती हैं। सब संकटोंका मूल 'इस देहमे यह मैं हूं' ऐसा श्रद्धान करना है। यही महामूढ़ता है। इस मूढ़ताके रहते हुए हम विपत्तियोंसे, संकटोंसे बचने और सुख पानेकी कोशिश करें तो वे सारी कोशिशें व्यर्थ हैं। यदि वास्तवमें शांतिकी इच्छा है तो यह यत्न अवश्य करो कि मैं देहसे न्यारा ज्ञानमात्र हूं। इसको तो कोई पहिचानने वाला भी नहीं है। इससे तो कोई बात भी नहीं किया करता है। लोग जिसे देखते हैं वह मैं नहीं हूं। मैं तो सबसे अपरिचित ज्ञानज्योतिमात्र हूं। यहां मेरा यश क्या और अपयश क्या ? यश भी कुछ और नहीं है। मायामय ये पुरुष हैं और वे अपने विषय-कषायोंके अनुसार अपनी प्रवृत्ति कर रहे हैं, वे अपनी प्रवृत्तिमें मेरे गुण बखान रहे हैं, पर यह यश क्या है ? उन मायामय पुरुषोंका एक प्रवर्तन है। यश क्या चीज है ? कुछ भी नहीं है। जब यश कुछ नहीं है तब अपयश भी कुछ नहीं है। सबसे बड़ा साहस ज्ञानी जीवके यह होता है कि कोई यश करे अथवा अपयश करे उनसे उसके चित्तमें कोई परिवर्तन नहीं होता। या तो मैं ही चिग जाऊँ तो पतनरूप परिवर्तन है और अपने आपमें लग जाऊँ तो उत्कर्षरूप परिवर्तन है। मेरे परिवर्तन करनेमें बाहरका अणुमात्र भी कोई समर्थ नहीं है।

निश्चय और व्यवहारसे अपना अवलोकन— इस जीवके देह नहीं है। जब देह ही नहीं है, यह अमूर्त है, आकाशवत् निर्लेप है, ज्ञानानन्दभाव मात्र है, तो अन्नका स्पर्श कैसे हो ? अन्नको ग्रहण कौन करे ? इस जीवके अन्नको ग्रहण करनेकी परिणति भी नहीं है। फिर हो क्या रहा है यह सब कुछ। देह व्यवहारसे है। व्यवहारका अर्थ यहां "असत्य" नहीं है किन्तु दो विजातीय द्रव्योंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे होने वाली घटना में यह देह बन जाया करता है। जहां किसी भी वस्तुमें बात न पायी जाय और अन्य वस्तुके सम्बन्धसे कोई बात बने, उसको व्यवहार कहते हैं। अपने आप सहज अपने स्वरूपसे अपने स्वभावसे तत्त्व पाया जाय उसको निश्चय कहते हैं, परमार्थ कहते हैं।

व्यावहारिक संग— जैसे कोई पुरुष कहे कि यह मेरा लड़का है अथवा स्त्री कहे कि यह मेरा लड़का है ऐसे परको लड़का बताना निश्चय की बात है या व्यवहारकी बात है ? यहां बहुत भीतरी निश्चयकी बात

नहीं पूछ रहे हैं, किन्तु यह स्थूल निश्चयकी बात कह रहे हैं। यदि किसी भी एकका हो सके तो प्रासंगिक निश्चयसे वह उसका है। केवल पुरुषका लड़का बन जाय तो पुरुषका हो गया, केवल स्त्रीसे लड़का बन जाय तो स्त्रीका हो गया। जैसे केवल पुरुषमें अथवा स्त्रीमें पुत्र प्रसवकी बात नहीं है तो इस ही प्रकार जितना दंदफंद है देह है, कषायें हैं, विरोधभाव हैं ये सब न केवल जीवसे प्रसूत होते हैं और न पुद्गलसे प्रसूत होते हैं। जैसे पुत्रके उत्पन्न होनेमें माता पिता दोनों कारण पड़ते हैं, ऐसे ही विभावोंमें निज और कोई पर—ये दोनों कारण पड़ते हैं। यद्यपि ये रागादिक भाव जीव और पुद्गल दोनों कारणोंसे होता है, फिर भी रागादिकका आधार जीव है और बाहरी निमित्त पुद्गल हैं। इसी प्रकार यह जीव समास है देहकी रचना है। यह काय भी यद्यपि जीव और पुद्गल दोनों कारणोंसे है, फिर भी इनका आधार पुद्गल है और बाहरी निमित्त जीव है। यों व्यवहारसे यह देह है। व्यवहारसे देह है तो व्यवहारसे ही आहारका ग्रहण है।

व्यवहारकी अशाश्वतता व औपाधिकता— यहां यह नहीं जानना कि व्यवहारसे ही आहारका ग्रहण है तो रहे। वास्तवमें तो मेरा कुछ नहीं है ना। व्यवहारसे ही पाप बनते हैं, व्यवहारसे ही पुण्य बनता है—ऐसा सुनकर कोई कहे कि व्यवहारसे पाप बँधे हैं तो बंधे, असलमें तो नहीं बँधते। वास्तवमें तो नहीं बँधते, ठीक है मगर व्यवहारसे पाप बँधे हैं, तो उसके ही फलमें व्यवहारसे जो नरकादिक दुर्गतियां रहती हैं उनमें गम खावोगे क्या? नहीं गम खावोगे। तो जिन्हें व्यवहारकी दुर्गति पसंद न हो उसे व्यवहारका पाप भी न करना चाहिए। यहां निश्चय तो केवल एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका नाम है। स्वभावमें स्वरूपमें विकार नहीं हुआ करता है। यदि वस्तुके स्वभावमें विकार हो जाय तो वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। व्यवहारसे ही यह देह है और व्यवहारसे ही आहार ग्रहण है।

अयोग्य स्थानपर प्रतिष्ठापनाका कारण निर्दयता— जब आहार ग्रहण होता है तो मलमूत्रादिक भी हुआ करते हैं। तो मलमूत्रादिककी स्थितिमें उन्हें ऐसी जगह मलमूत्र क्षेपण करना चाहिए जहां कोई जंतु न हो। अब बतावो साधु तो नग्न हैं, उनकी कौनसी बात छिपी हुई है फिर भी मलमूत्र करने जाते हैं छिपे स्थान पर, इसमें भी अनेक तत्त्व भरे हैं। व्यवहारकी बात है, तीर्थकी प्रवृत्ति है। जहां रुकावट हो, मना हो वहां मलमूत्रका क्षेपण न करना चाहिए। जहां लोगोंका आवागमन हो वहां

मलमूत्र क्षेपण न करे। यदि कोई दूसरोंके आने जानेके स्थानपर मलमूत्र करता है तो उसे निर्दय कहा जाता है, दयाहीन कहा जाता है। जैसे आज कलके बहुतसे अहंमन्य किन्हीं आश्रमोंमें रहते हैं वहां यह दृश्य बहुत मिलेगा। बरसातके दिन हैं, आसपास थोड़ी घास खड़ी है, रास्तेमें कुछ नहीं है। प्रासुक है, कोई देख नहीं रहा है तो रास्तेमें ही मलमूत्र कर देंगे। आप यह सोचिये कि उनकी दृष्टि है कि मैंने संयम पाला, घास पर मैंने पैर नहीं रक्खा, पर यहां दृष्टि उनकी नहीं गयी कि यहां मनुष्य आते जाते हैं, देख कर नाक सिकोड़ेंगे, रास्ता छोड़कर अलगसे जायेंगे, उन्हें कितना कष्ट होगा? इस बातका उन्हें विवेक नहीं रहा।

अटपट त्याग और अटपट हृदय— जैसे बहुतसे श्रावकों के त्यागके क्रमका विवेक नहीं होता है। कोई पूछे कहां जा रहे हो? शिखर जी। वहां क्या करोगे? हम तो शिखरजी जाकर आलूका त्याग करेंगे। अरे तुमने गोभी का त्याग किया कि नहीं? उसका तो नहीं त्याग किया. बाजार की सड़ी बासी जलेबियां अथवा बाजारका बहुत दिनोंका पिसा हुआ मैदा जिसमें लट पड़ जाती हैं उसका त्याग किया कि नहीं? उसका त्याग तो नहीं किया। अरे उनका त्याग नहीं किया और आलूका त्याग करने जा रहे हो, अरे जिन चीजोंमें मांसभक्षणका दोष लगता है ऐसी चीजोंपर दृष्टि नहीं जाती है और आलूपर दृष्टि गई। यद्यपि आलूका त्याग करना भी ठीक है, अनन्तकायोंका उसमें बचाव हो जाता है लेकिन एक भी त्रस जीवकी हिंसा हो तो वह बहुत बड़ी हिंसा हो गयी, इसकी ओर ध्यान क्यों नहीं है, यों ही अपने स्वार्थमें अपने कल्पित संयममें तो दृष्टि जगे और दूसरे मनुष्योंको बाधाएँ आयें, इस ओर ख्याल न हो तो बतावो ऐसे अटपट हृदयमें कैसे धर्मका अभ्युदय होगा?

रात्रिमें प्रतिष्ठापनाकी विधि— साधुजन शामके समय मलमूत्रक्षेपण को तीन जगह स्थान देख लिया करते हैं कि रात्रिको कहीं मूत्रक्षेपण करना होगा तो कहां करेंगे? यह उनकी एक ड्यूटी है, जो जगह शामको पास की, देख लिया, निर्जन्तु हो उसही जगह रात्रिको लघुशंका करने जायेंगे। तब प्रथम तो उस जमीन पर अपना उल्टा हाथ रखेंगे कोमल ढंग से ताकि यह विदित हो जाय कि यहां कोई जंतु नहीं है। यदि उस जगह कोई जंतु है तो वहांसे हटकर दूसरी जगह चले जायेंगे। दूसरी जगह भी हथेलीसे उल्टा हाथ करके देख लेंगे कि यहां भी जंतु तो नहीं है। उल्टा हाथ जमीन पर कोमलतासे रखा जाता है और सीधा कुछ दृढ़तासे रखा जाता है, साथ ही हाथ की गादी से जीवका परिचय जल्दी नहीं होता। हाथके

ऊपरी भागसे जीवके चलनेका जल्दी परिचय हो जाता है। दूसरे स्थान पर भी यदि जीव हों तो तीसरे स्थान पर जाते हैं। आप यहां यह शंका कर डालेंगे कि तीसरे स्थान पर भी जीव हों तो? पहिली तो यह बात है कि पहिले स्थान पर ही जंतु न हों। जब सांयको भलीभांति देख लिया, छिद्र रहित स्थानको देख लिया तो पहिले ही स्थानमें सम्भव है कि जंतु न हों। और यदि वहां जंतु हो तो शायद दूसरी जगह न हों। और कदाचित् आपकी भी बात मानें कि तीसरी जगह भी जंतु हो तो अब जो कुछ बने सो हो जायेगा, मूत्र तो रोका नहीं जाता। उसमें भी जहां जगह उचित समझी, वहां मूत्रक्षेपण कर लिया, उसका विशेष प्रायश्चित साधु कर लेंगे।

न्याय और दयाकी मूर्ति— साधुका स्वरूप एक दयाकी मूर्ति है, क्षमाकी मूर्ति है, आत्मकल्याणकी मूर्ति है। वे कीट मात्रको भी बाधा पहुंचानेका चित्तमें आशय नहीं रखते। ऐसे साधु संतजन आहार ग्रहण करनेके परिणाममें जब उन्हें मलमूत्र क्षेपणकी घटना होती है तो ऐसे प्रासुक जंतुरहित गूढ़ लोगोंके आवागमनरहित जहां किसी की मनाही न हो, ऐसे स्थान पर वे मलमूत्र क्षेपण करते हैं। कोई साधु बड़ी अच्छी साफ जगह पर मूत्र क्षेपण कर आये और कोई सिपाही रोके कि यह तो रास्ता है क्यों यहां लघुशंका कर दी? साधु जवाब दे कि मैं साधु हूं, मैं प्रतिष्ठापनासमिति करने आया हूं। तुम्हें दिखता नहीं है। तो कहो वह दो एक चांटे भी रसीद करे। उसकी प्रतिष्ठापनासमिति नहीं सुनेगा। खैर जो कुछ हो, मगर जहां दूसरेके स्थान पर रुकावट हो, ऐसे स्थानपर प्रतिष्ठापना न करना चाहिए।

कमण्डलका उपयोग— ये साधुसंत जन जैसे कि आदाननिक्षेपण समितिमें बताया है शौचका उपकरण कमण्डलु रखते हैं, उनके कमण्डलु का उपयोग मलमूत्र करके कायशुद्धि करनेमें ही होता है। कमण्डलु किसे कहते हैं? कमण्डलु शब्दमें तीन भाग हैं। क मंड अलुच्। क तो शब्द है मंड धातु है, और अलुच् प्रत्यय है। क का अर्थ है जल, मंडका अर्थ है शोभा करना, कहते हैं ना, मंडन करना, शरीरकी शोभा करना तो जल जिसमें सुशोभित हो, उसका नाम है कमण्डलु। लगता भी अच्छा है ना कमण्डलुमें पानी बड़ी शोभा देता है।

शब्दके अर्थसे वस्तुकी उपयोगिताका आभास— ये जितने व्यवहार में शब्द आते हैं न, सब शब्दोंका व्युत्पत्त्यर्थ है। कोई शब्द यदि हिन्दीके है तो उनका हिन्दीके अनुसार अर्थ है। आप कहते हैं ना लोटा। लोटा उसका नाम है जिसके नोचे पेंदी न हो, चारों तरफ लुढ़कता रहे, लोटता

रहे उसका नाम है लोटा। और कहते हैं गड़ई। मारवाड़में गड़ई कहते हैं, बुन्देलखण्डमें खूब कहते हैं। गड़ई उसका नाम है जिसके नीचे गड़ जाने जैसी चीज बनी हो। जो ऐसी गड़ जाय कि हिलेडुले नहीं उसका नाम है गड़ई। पतेली बोलते हैं ना, जिसमें साग छौंकी जाती है। जो अटक न रखकर, कृपा भी न रखकर जिसमें साग पतित कर डाली जाय उसका नाम है पतेली। पतेलीमें घी जीरा आदि डाल दिया, उसके बाद फिर सागको बेरहमीसे पटक दिया जाता और फिर लोग दृष्टि भी नहीं डालते हैं तो जिसमें साग पतित कर दिया जाय, डाल दिया, जाय उसका नाम है पतेली। भगोना लोग बोलते हैं। भगोना मायने भगो ना। वह जल्दी उठाया नहीं जा सकता है। जहां चाहो वहां ही धरदो, वहांसे जो भाग नहीं सकता है उसका नाम है भगोना। तो यह शब्दोंमें ही अर्थ भरा हुआ है। यों ही पचासों शब्द हैं जिनको आप अपने व्यवहारमें बोला करते हैं। तो कमण्डलु केवल कायशुद्धिके लिए ही साधुजन रखते हैं। मलमूत्र क्षेपण के बाद वे कायशुद्धि करते हैं और इसके पश्चात् कैसा परिणाम बनता है यह बहुत ध्यानसे सुनने लायक बात है, इसे फिर कहेंगे।

कायधर्मकी पूर्वोत्तरविधि— अपहृतसंयममें प्रवृत्त साधुजन जब मलमूत्र क्षेपण करते हैं। प्रासुक, दूसरोंकी बाधासे रहित, जहां दूसरे रोके नहीं ऐसे स्थानपर क्षेपण किया करते हैं। वे ऐसे योग्य स्थान पर शरीरका धर्म करते हैं। इसका नाम शरीरका धर्म कहा है। मल करना, मूत्र करना, थूकना ये क्या हैं? शरीरके धर्म। और आत्माकी सावधानी रखना, श्रद्धान रखना, ज्ञान रखना, आचरण करना ये क्या हैं? आत्माके धर्म। शरीरका धर्म करनेकी वहां आवश्यकता थी। तो मलमूत्र आदिक का क्षेपण करके फिर उस स्थानसे चलकर उत्तर दिशामें कुछ चलकर और उत्तर दिशाकी ओर मुख करके, उत्सर्ग करके अर्थात् मन, वचन और काय की चेष्टावोंका परिहार करके, अपनेको भाररहित चैतन्यस्वरूपका अनुभव करनेकी तैयारी करके, अव्यग्र होकर चित्तको स्थिर करके वे साधुजन अपने आपकी भावना करते हैं।

कायधर्मके बाद आत्मधर्म— जैसे किसी बड़ी दुर्घटनासे बच जाय कोई तो दुर्घटनासे निकलने पर अपने आपमें खैर मनाता है, विश्राम लेता है और कुछ अपने आपके हितकी धुन करता है। जैसे मानों कहीं कोई साम्प्रदायिक दंगा हो और उस दंगामें जो फंस जाता है, जानका खतरा है और किसी तरहसे उस खतरेसे निकल आये तो ऐसा चित्तमें लगता है कि अब हम बच गये तो अब मित्र, स्त्री, पुत्रमें ममता करके अब क्यों जीवन

बिगाड़ें, अपने हितमें सावधान रहें। ऐसी ही दिनमें कई बार जो साधुवों को दुर्घटना आती है क्या, क्या दुर्घटना? शौच जाना, पेशाब करना, आहार करना, ऐसी-ऐसी जो उनके लिए दुर्घटनाएँ आती हैं, साधुजन उन्हें दुर्घटना समझते हैं, करना पड़ता है, तो उनसे जब निवृत्त होते हैं तो खैर मनाते हैं, कायशुद्धि करके अपने आपमें विश्राम लेते हैं, कुछ अपनी विशेष सुध करते हैं।

प्रतिष्ठापनाके बाद सहज उन्मुखता— ये संयमीजन शरीरका धर्म करनेके पश्चात् उत्तर दिशाकी ओर जाते हैं अथवा उस स्थानसे पीछेकी ओर आते हैं। कुछ थोड़ीसी सहज उनकी ऐसी वृत्ति बन जाती है अथवा उनका मन झुका है तीर्थंकरोंमें शाश्वत जो विराजमान् है, तो जैसे किसी को कोई थोड़ा सताये तो मौका पाकर छूटकर अपने शरणकी ओर दृष्टि देता है। यों ही इन कार्योंकी आफतोंसे छूटता है तब साधु प्रकृत्या अपनी ओर निरखता है। जो तीर्थंकर परमार्थ पुरुष हैं उनकी ओर दृष्टि देता है। विदेहमें तो वे शाश्वत विराजमान् हैं। सो उत्तर दिशाकी ओर थोड़ा चलकर और उत्तर दिशाकी ओर मुख करके वे कायोत्सर्ग किया करते हैं। उस कायोत्सर्गके समयमें वे आत्माकी भावना करते हैं। थोड़ा उनको इस बातका खेद भी होता है और कहां इस जीवको मलमूत्र करने जैसी प्रवृत्ति में भी उपयोग देना पड़ता है। इसका उनके खेद होता है।

कायमें क्या—कायोत्सर्ग करके वे शरीरकी अशुचिताकी बारबार भावना करते हैं। यह शरीर कितना अशुचि है, इसमें मलमूत्र भरा है और भीतर क्या है? कोई मजाकिया पुरुष था व्यापारी। भैंसे पर बोझ लादे हुए जा रहा था। रास्तेमें मिला चुंगी का घर, चुंगी वाले ने कहा—अबे क्या लिए जा रहा है? व्यापारी बोला—भैंसा। इसमें क्या भरा है? व्यापारी बोला—गोबर। अबे किस तरह बोलता है? ओं ओं। ऐसा ही तो भैंसा बोलता है ना, यों ही जिस मुद्राको देखकर, परिवार समागममें रहकर मस्त हो रहे हैं उनमें क्या भरा है? वही मल मूत्र, और बोलते क्या हैं? अपनी स्वार्थभरी बातें।

आत्मपरिचयका वैभव— भैया! इस जीवका दूसरा कोई साथी हो ही नहीं सकता। खुदकी दृष्टि निर्मल हो और खुद खुदको पहिचान जाय तो इसके लिए परमशरण मिल गया समझिये, अन्यथा संसारमें भटकते रहना बदा है। कहींके मरे कहीं जन्मे, फिर मरे फिर कहीं जन्में। फुटबाल की तरह यहांसे वहां ठोकरें ही खाना पड़ेंगी यदि अपने आपके सहज-स्वभावका परिचय नहीं होता है तो। अपने सहजस्वभावका परिचय हो

जाने पर फिर क्यों यह जीव स्थिर हो जाता है, आनन्दमय हो जाता है। इसका कारण यह है कि यह मैं खुद आनन्दसे भरपूर हूं। आनन्दसे भरपूर क्या, आनन्द ही इसका स्वभाव है, आनन्दका ही नाम आत्मा है। वह आनन्द ज्ञानका अविनाभावी है। इस कारण यों कहो ज्ञानानंदस्वरूप यह आत्मा है। यदि आनन्दमय अपने आपका परिचय हो गया फिर अनन्त आनन्द क्यों न होगा? सब कुछ निर्णय अपने आपके अंतरङ्गमें ही करना है। बाहरकी बात तो जितना कम देखनेको मिले, जितना कम सोचनेको मिले, जितना कम उलझने को मिले उतना भला है।

प्रतिष्ठापनासमितिमें अन्तर्वृत्ति— ये साधु महापुरुष प्रतिष्ठापना करके पश्चात् संसारके कारणभूत मनकी प्रवृत्तिको रोककर और शरीरकी चेष्टावोंको रोककर वचनालाप रोककर कायोत्सर्ग करते हैं। इस कायोत्सर्ग के समय कितने ही आत्मप्रकाश उनमें आते रहते हैं। ये परमसंयमी साधु पुरुष मलमूत्र क्षेपणके बाद प्रतिष्ठापनासमिति करनेके पश्चात् एक जगह खड़े होकर अपने आपके आत्मतत्त्वकी भावना करते हैं और इस शरीरकी अपवित्रताका बार-बार विचार करते हैं। तब इन साधुजनोंके प्रतिष्ठापना समिति है। केवल ऊपरी क्रियाएँ कर लेने मात्रसे प्रतिष्ठापनासमिति नहीं होती।

प्रतिष्ठापनासमितिमें संवरनिर्जरा हेतुत्वका कारण— कोई साधु यह कल्पना करे कि मैं साधु हूं, मुझे जीवकी रक्षा करनी चाहिए, मूत्र-क्षेपण करने जायें तो जमीन देखकर निर्जन्तु स्थानमें क्षेपण करें और बादमें फिर शुद्धि करके कायोत्सर्ग करलें, लो हमने प्रतिष्ठापनासमिति निभाई। यह निर्णय कर लेना प्रामाणिक नहीं है। अरे प्रतिष्ठापनासमिति तो संवर और निर्जराका कारण है। यदि बाहरमें जीवोंके द्रव्य प्राणोंकी रक्षा कर देने मात्रसे प्रतिष्ठापनासमिति हो जाय तो यों जीवरक्षा तो अनेक प्रसंगोंमें साधारणजन भी किया करते हैं। इसमें यह मर्म है भरा है कि जीवरक्षा करनेके पश्चात् जो कि शरीर धर्म किया ना, मल, मूत्र, क्षेपणमें प्रवृत्ति की ना, ऐसी गंदी बातोंमें कुछ उपयोग लगाना पड़ा ना तो वे प्रायश्चित लेते हैं, खेद करते हैं; इस बातका कि मेरा यह ५ मिनटका समय इन बाहरी क्रियाकलापोंकी दृष्टिमें व्यतीत हुआ और उस समय उनकी आत्माकी झलक चित्प्रकाशका प्रतिभास स्वात्मस्पर्श होता है और वे इस शरीरकी अशुचिताकी भावना करते हैं, ऐसा परिणाम बनता है तब उनके प्रतिष्ठापनासमिति होती है।

आहारसे पहिले कायोत्सर्ग करनेका प्रयोजन— साधुजन भोजन

करने के पश्चात् भी कायोत्सर्ग करते हैं। उनके कायोत्सर्ग करनेका प्रयोजन क्या है? आहारसे पहिले जो वे सिद्ध भक्ति और नमस्कारमंत्र जपते हैं, वहां भी यह भावना करते हैं कि हे प्रभु! अब मैं आहार करने जैसी गृह आपत्तिमें, बाह्य बातमें पड़ रहा हूं। इस उपयोगमें यह बहुत सम्भव है कि मैं अपने आपसे बहुत दूर हो जाऊँ और उसमें चित्त दूं। यह मेरे लिए आपत्ति है। मैं तो आनन्दमय निज आत्मतत्त्वका संग थोड़े भी समयको छोड़ना नहीं चाहता हूं। पर शरीरकी बात शरीरके कारण, निभानी पड़ रही है। इस आहारमें अब मैं प्रवृत्त होने जा रहा हूं, सो हे प्रभु! इसीलिए मैं तुम्हारा स्मरण कर रहा हूं कि आहार करनेके समयमें भी मैं आत्माको भूल न जाऊँ। मुझे इस आत्मस्वरूपका स्मरण रहा करे यही है भोजनसे पहिले भक्ति करनेका प्रयोजन।

आहारके पश्चात् कायोत्सर्ग करनेका प्रयोजन— भोजनके बाद जो कायोत्सर्ग भक्ति की जाती है उसका प्रयोजन यह है कि एक विपत्तिसे अब निकल आया। साधुपुरुष आत्मानुभव, आत्मज्ञानसे अतिरिक्त जितने कार्य हैं उन कार्योंमें प्रवृत्ति करनेमें वे विपदा मानते हैं। सो विपदासे निकलने के पश्चात् स्वयं ही एक परमविश्राम होता है और प्रभुकी सुध आती है। सो यदि आहार करने के समयमें आत्मस्वरूपका स्मरण भी बनाये रहा होगा तो वह कुछ खुशीमें आनन्दमें प्रभुका स्मरण कर रहा है। हे प्रभु! तुम्हारी भक्तिके प्रसादसे इस विपदामें भी मैंने अपने आपके चिंतनको न छोड़ा। यदि आत्मतत्त्वसे विमुख रहा है तो जितने समय आत्मतत्त्वसे विमुख रहा उसका खेद साधुजन करते हैं और उस अपराध के प्रायश्चित्तके पश्चात् कायोत्सर्ग करते हैं।

प्रतिष्ठापनाके पश्चात् कायोत्सर्गका प्रयोजन— ऐसे ही प्रतिष्ठापना समितिमें मूत्रक्षेपण आदिके पश्चात् वे कायोत्सर्ग करते हैं जिसमें अव्यग्र होकर चित्तको स्थिर करके निज आत्मभावना करते हैं। व्यग्रताका समय जो था वह गुजर गया। अब अव्यग्र होकर आत्मतत्त्वकी भावना और इस शरीरकी अशुचिताका ध्यान करते हैं। ऐसे परमसंयमी साधु पुरुषके प्रतिष्ठापनासमिति होती है।

अन्तर्ज्ञान विना धर्मकी अप्राप्ति— अन्य जो मुनि नामधारी स्वच्छन्दवृत्ति वाले पुरुष हैं उनके तो कोईसी भी समिति नहीं होती है। बाहरमें बड़ा देखभाल कर भी चलें, दूसरोंसे बड़ी मीठी प्रेमकी बात भी बोलें, बड़ी भक्ति भी लोगोंको दिखायें, मल, मूत्र, क्षेपण भी समितिपूर्वक करें, इतने पर भी अन्तर्वृत्ति न जगे, स्वभाव परिचय न हो, निश्चय न

हो, निश्चयसमिति न बने तो इतना काम करके भी संवर और निर्जरा तो होता नहीं।

मूलपरिचय बिना परिश्रमकी विडम्बना—कुछ मुसाफिर लोग बाजारसे जा रहे थे किसी नगरको। जाड़ेके दिन थे। रास्तेमें जंगलमें एक रात वे ठहर गए। खूब जाड़ा लगा, तो जाड़ा दूर करनेके लिए उन मुसाफिरोंने खेतोंकी मेड़ परसे बाड़ी तोड़ तोड़कर जो यहां वहां सूखी जरेटियां पड़ी थीं उन्हें बीन बीनकर एकत्रित किया और चकमकसे आग निकालकर उसे ईंधनमें डाल दिया, फिर फूंका। खूब जलाकर हाथ पसार कर सब तापने बैठ गए। खूब रातभर तापा। वे मुसाफिर तो तापकर दूसरे दिन चले गए। उन मुसाफिरोंकी सारी क्रिया पेड़ पर चढ़े हुए बंदर देख रहे थे। सो दूसरे दिन उन बंदरोंने भी सोचा कि अपन भी जाड़ा मिटानेके लिए वैसा ही करें जैसा कि उन मनुष्योंने किया था। सो वे बंदर भी जरेहटें एकत्रित करने के लिए चारों ओर दौड़े। लाकर जरेहटें एकत्रित कर दिया और तापने बैठे। अब सभी बंदर सोचते हैं कि इतना काम तो कर डाला, फिर भी जाड़ा नहीं मिटा। तो एक बंदर बोला कि इसमें कुछ लाल लाल डाला गया था। बिना उसके जाड़ा कैसे मिटे? तो उस समय बहुतसी पटबीजना उड़ रही थीं, उन्हें पकड़ कर सब बंदरोंने उसमें डाला। सारा ईंधन लाल-लाल हो गया, फिर भी जाड़ा न मिटे। एक बंदर बोला, अरे जाड़ा अभी कैसे मिटे, वे मनुष्य इसे फूँक रहे थे, सो वे सब उसे फूँकने लगे। फिर भी जाड़ा न मिटा। एक बंदर फिर बोला—अरे मूर्खो वे फूँकने के बाद हाथ पसारकर यों बैठ गये थे। सो हाथ पर हाथ रखकर वे भी बैठ गये। इतना कर लेने पर भी उन बंदरों का जाड़ा न मिटा। अब बतावो—उनके यत्नमें कौनसी कसर रह गयी? सारे काम तो कर डाले।

अन्तर्ज्ञान बिना चेष्टाकी विडम्बना— सो भैया! जैसे उसमें डाली जाने वाली आगका पता उन बंदरोंको न था, सो उनका सारा श्रम व्यर्थ गया, ऐसे ही भीतरमें इन पापकर्मोंका कर्म ईंधनको जला देने वाली स्वानुभूतिरूपी अग्निका परिचय न होने से ये अज्ञानीजन उन्हीं बंदरोंकी भांति भेषधारण करें, नग्न भी हो जायें, दूसरोंको उनमें कोई दोष भी नजर न आये, इतने पर भी एक सुगम स्वाधीन आत्मतत्त्वका परिचय न होने के कारण वह सब व्यर्थ चला जाता है, संवर और निर्जरा नहीं हो पाती है। स्वरूपपरिचयी गृहस्थ अज्ञानी मुनिसे उत्तम है। सद्गृहस्थ तो मोक्षमार्गमें लगा हुआ है और भेषी साधु मोक्षमार्गसे विमुख है।

है। कुछ भी स्थिति आये, अपना कर्तव्य है कि अपने आपके अन्तरमें विराजमान् नित्य प्रकाशमान् इस सहज आत्मतत्त्वकी दृष्टि बनायें। इस आत्मतत्त्वके बलसे ही परमसंयमी साधुके प्रतिष्ठापनासमिति होती है। यहां तक प्रतिष्ठापनासमितिका वर्णन चला है।

समितियोंमें आत्मसाम्राज्य-- ये सर्वसमितियां मुक्तिसाम्राज्यका मूल हैं। देखो-- कहने सुननेको तो यह समिति प्रवृत्तिरूप है, किन्तु जो प्रवृत्ति अंश है वह संवर निर्जराका कारण नहीं है। उन प्रवृत्तियोंके करते हुएमें और उन प्रवृत्तियोंके अनन्तर ही पश्चात् जो साधुके स्वानुभव और चित्प्रकाश चला करता है वह है संवर निर्जराका कारण। देखो प्रवृत्तिमें भी जो सावधानी बना सकें उसके सावधानी बनी रहती है। रागसे निवृत्ति हो गयी तो सही बात है ही, किन्तु उससे भी अधिक अभ्यास उस पुरुषको है जो प्रवृत्तिमें भी आत्मसावधानी बनाये रहे।

प्रवृत्तिमें भी निवृत्तिकी सावधानीका एक उदाहरण-- कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि साधु जो तीन प्रकारके होते हैं ना--आचार्य, उपाध्याय और मुनि। इनमेंसे आचार्यको बड़ा झंझट रहता है। शिष्योंकी संभाल करना, उन्हें प्रायश्चित देना, शिक्षा देना, बड़े झंझट रहते हैं। अरे आचार्यको झंझट रंचमात्र भी नहीं हैं। आचार्यकी सावधानी मुनिसे भी अधिक रह सकती है, इतनी प्रवृत्तिमें रहकर भी आचार्य अपने आत्मा की विशद दृष्टि बनाये रहे तो समझो उनके भीतरमें कितनी बड़ी योग्यता बसी हुई है? इस समितिमें निवृत्तिके अंशकी, स्वभावकी उन्मुखताकी विशेषता है।

समितिधर गुरुवरकी उपासनासे श्रावकको शिक्षण-- जो जिनमत में कुशल है, स्वात्मचिंतनमें दक्ष हैं, ऐसे साधुजनोंको ये सब समितियां मुक्तिका राज्य पाने के लिए मूल कारण हैं। जो पुरुष विकारी होते हैं, कामवासनासे जर्जरित हैं, जिनका हृदय दुर्भावनासे लद गया है ऐसे मुनिजनोंको यह समितियां प्राप्त नहीं होती हैं। मुनिजनोंकी समिति तो उत्तम संयम है ही, किन्तु श्रावकजन भी मुनि के उपासक हैं ना, सो जैसे माता मंदिरमें प्रभुकी मूर्तिके आगे अपना सिर नवाती है तो साथमें रहने वाला लड़का भी मात्र प्रेमकी वजहसे सिर नवाता है। नहीं होता है उस बालकको ज्ञानरूप अनुभव, लेकिन जब मां जाप करती है तो वह बालक भी जाप करने लगता है। तो श्रावक भी चूँकि मुनियोंके उपासक हैं, इस कारण जैसे मुनि सावधानीसे प्रवृत्ति करते हैं, वैसे श्रावकको भी अपने पद और शक्तिके अनुसार सावधानी करनी चाहिये।

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइ असुहभावाणं ।
परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥६९॥

पूर्ववर्णित महाव्रत और समितियोंका स्मरण— इससे पूर्व व्यवहार चारित्र अधिकारमें पञ्चमहाव्रतों और पञ्चसमितियोंका वर्णन हुआ। साधुजन व्यवहारचारित्रके समय भी अंतःचारित्रकी उन्मुखताको नहीं छोड़ते हैं। चारित्रकी जान अन्तर्भावना है। केवल मन, वचन, कायकी चेष्टा और स्थिरताको चारित्र नहीं कहते हैं। चारित्र पुद्गलका गुण नहीं है, चारित्र आत्माका गुण है। दर्शन और ज्ञानकी पर्यायोंमें स्थिरता से आलम्बन होना अर्थात् ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहना इसको चारित्र कहते हैं। व्यवहारचारित्र पालन करते हुए यदि इस अंतःसंयमकी सुध रहती है तब उसका नाम व्यवहारचारित्र है। पंचमहाव्रतोंमें साधुजन किस प्रकार अन्तर्भावना करते हैं इसका भी वर्णन पहिले निकल चुका है और समितियोंके समय इसही प्रकार साधुजन निश्चयसमितिका पालन करते हैं।

ईर्यासमितिमें निश्चय व्यवहार— ईर्यासमितिमें व्यवहार अंश तो इतना है कि जीवरक्षाका भाव रखते हुए अच्छे कामके लिए सद्भावना सहित दिनमें चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना। उस समय भी निश्चयसमिति उनके है। वे इस प्रकारसे जानते हैं कि विहार करना आत्माका स्वभाव नहीं, अविहारस्वभावी आत्माकी सिद्धिके लिए विहार करना पड़ रहा है। होती है कोई परिस्थितियां ऐसी कि जब विहार करना ही चाहिए। मैं तो इस अविहारस्वभावी आत्मतत्त्वमें गमन कर रहा हूं, गमन करना चाहिए। गमन करनेका उनका जो यत्न रहता है वह है निश्चय ईर्यासमिति।

भाषासमितिमें निश्चयव्यवहार – भाषासमितिमें भी हित मित प्रिय वचन साधुजन बोलते हैं। इतने पर भी उनके अन्तर्भाव यह रहता है कि वचन बोलनेका स्वभाव मेरा है ही नहीं, मैं तो भाषासे रहित केवल भावमात्र चैतन्यस्वरूप हूं। उस निर्वचन निर्बाध आत्मतत्त्वकी उन्मुखताका यत्न रखते हुए वे रहते हैं, यह है उनकी निश्चयसमितिका पालन।

आदाननिक्षेपण समितिमें निश्चयव्यवहार— व्यवहारमें वे शौच, संयम और ज्ञानके उपकरणोंको ग्रहण करते हैं और रखते हैं सावधानी सहित जीवरक्षा का ध्यान रखते हुए, किन्तु साथ ही अंतरंग में यह भी संस्कार बना हुआ है कि बड़ी सावधानी सहित अपने आपके गुणोंका तो ग्रहण करना और विकारोंका क्षेपण करना, ऐसी निश्चयसमिति सहित उनका आदान निक्षेपणव्यवहारसमिति में चलता है।

ऐषणासमितिमें निश्चयव्यवहार— एषणासमितिमें वे शुद्ध विधि सहित अंतराय टालकर, दोषोंको दूर कर आडम्बर पाखण्डोंको न बढ़ाकर वे आहारकी एषणा करते हैं। यह तो उनका व्यवहारसमिति अंश है किन्तु अंतरंगमें उनके यह ध्यान बना हुआ है कि मेरे आत्माका तो केवल द्रव्यापनका कार्य है। आहार करने जैसी अत्यन्त बेढंगी बातमें लगाना पड़ता है। कहां तो यह मैं अमूर्त आत्मतत्त्व और कहां यह मूर्त पुद्गल आहार। इसका इसके साथ जोड़ा क्या? ऐसे अनाहारस्वभावी अमूर्त आत्मतत्त्व की सिद्धिके लिए चूँकि यह परिस्थिति बड़ी विकट है सो आहार ग्रहण करना पड़ रहा है। आहार ग्रहण करते हुए अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्वका ध्यान रखने वाले साधुवोंको आहारका मजा ही क्या आयेगा? भले ही लोग हाथ जोड़ रहे हैं, बड़े मिष्ठ व्यञ्जन सामने रख रहे हैं, किन्तु उनका चित्त तो अनाहारस्वभावी आत्मतत्त्वकी ओर है। यों निश्चय समिति सहित व्यवहारसमितिका पालन करते हैं।

प्रतिष्ठापनासमितिमें निश्चयव्यवहार— प्रतिष्ठापना समितिमें वे गुप्त प्रासुक, बाधारहित, जहां किसीकी रुकावट न हो, ऐसे स्थान पर मलमूत्र क्षेपण करते हैं। मलमूत्र क्षेपण करनेके पश्चात् कायोत्सर्ग करके उनकी ऐसी भावनामें जो विशुद्धि बढ़ती है वह भी आश्चर्यजनक है। एक बेढंगी परकी बातसे निपट कर, इस शरीरकी हठोंके झंझटोंसे दूर होकर वे साधु अपने आपमें विश्राम लेते हैं और उस निर्दोष निर्मल आत्मतत्त्वकी भावना करते हैं। साथ ही इस शरीरके अशुचिपनेका बार-बार परिणाम बनाते हैं, मनमें चिंतन करते हैं। यों अन्तरमें निश्चयसमिति सहित वे प्रतिष्ठापनासमिति करते हैं।

समितिधर संतोंके गुप्तिकी भावना— इस प्रकार प्रवृत्ति करते समय समितियों सहित अपनी प्रवर्तना करने वाले साधुसंत परिणाम यह रखते हैं कि यह सब कुछ भी न करना पड़े उसहीमें भला है और इन झंझटोंसे दूर होकर जब जब भी लम्बे-लम्बे अवसर आते हैं वे गुप्तियोंके पालनेमें रत रहते हैं अथवा थोड़ा भी अवसर मिले तो वे गुप्तियोंके पालनेका यत्न करते हैं।

गुप्तिका अर्थ— गुप्ति कहते हैं रक्षा करनेको। लोकमें गुप्ति का अर्थ छुपाना प्रसिद्ध हो गया है। यह गुप्त बात है अर्थात् छुपाई गयी बात है, पर गुप्तका अर्थ छिपाना नहीं है। गुप्तका अर्थ है रक्षा करना। किन्तु रक्षा छुपानेमें अधिकतया होती है इसलिए उसका असली अर्थ लोग भूल गए और छुपाना अर्थ प्रसिद्ध हो गया। यह मेरी बात गुप्त रखना, इसका अर्थ

तो यह है कि यह मेरी बात सुरक्षित रखना। बात सुरक्षित कब रहेगी जब आप अपने मनमें छुपाये हुए रहेंगे। यदि बोल दिया तो उस बातको टांग टूट जायेगी और बोलने वालेकी आफत आ जायेगी अर्थात् गुप्तका अर्थ है रक्षित करना। जिसमें निज आत्मतत्त्वकी रक्षा हो उसे गुप्ति कहते हैं।

मनोगुप्तिका अर्थ— यह गुप्ति तीन प्रकारकी है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। इन गुप्तियोंमें से इस समय मनोगुप्तिका वर्णन चल रहा है। मोह, संज्ञा, रागद्वेष आदि अशुभ भावोंके परिहार करने को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा गया है। मनोगुप्ति एक ही पद्धतिकी है, किन्तु जान बूझकर हठ करना, श्रम करना, मनोगुप्ति बनाना सो तो व्यवहार मनोगुप्ति है और इतना अभ्यास बन जाय, इतनी स्वच्छता और दृढ़ता आ जाय कि वे सारे काम सहज हों, तो यह निश्चयसे मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति का उद्देश्य दोनोंमें एक है। एक बना करके यत्न किया और एक सहज हुआ।

कलुषताका बोझ— कलुषताका अर्थ है क्रोध, मान, माया, लोभ। जैसे पानी स्वच्छ है, उसमें कोई दूसरी रंगीली चीज डाल दी जाय तो वह पानी कलुषित हो जाता है। इस ही प्रकार यह आत्मतत्त्व स्वच्छ है किन्तु इसमें क्रोध, मान, माया, लोभका कोई रंग गिर जाय तो यह रंगीला और कलुषित हो जाता है। इसका स्वभाव स्वच्छ ज्ञातृत्वका है, केवल जानन यह कितना सूक्ष्म और व्यापक कार्य है। यह एक जाननका अभ्यासी पुरुष जान सकता है और मोटे रूपमें यों समझिये कि यद्यपि जीवके स्वभाव भाव और विकारभाव सब ही आकाररहित हैं, रूप, रस आदिक रहित है फिर भी ऐसा विदित होता है कि जहां केवल जाननरूप ही वृत्ति है वहां तो अत्यन्त सूक्ष्म भाव है और जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदि तरंग आ जाते हैं तो वहां वह स्थूल भाव हो गया। इतना बोझ हो जाता है। सूक्ष्मतत्त्वका बोझ नहीं होता है किन्तु निर्भार स्थूल मोटी चीज आ जाय तो वहां बोझ हो जाता है। सो देखलो क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय करते हुएमें इस जीवको कितना बोझ रहता है? इतना बोझल होता हुआ यह जीव कर्मोंके भारको, शरीरके भारको ढोता हुआ यत्र तत्र विचर रहा है।

मनोगुप्तिकी उत्कृष्टता और अनुत्कृष्टता— इन क्रोधादिक चारों कषायोंसे रहित अपनी वृत्ति बनाना यह है मनोगुप्ति। अपने मनमें दुर्भाव न जगना, मनको वशमें करना सो है मनोगुप्ति। मनोगुप्तिका उत्कृष्ट अंश

तो यह है कि शुभ और अशुभ सभी प्रकारके विचार भी दूर हो जायें और उससे अनुत्कृष्ट अंश यह है कि अशुभ संकल्प विकल्प उत्पन्न न हों और शुभ संकल्पसे अपने आपकी रक्षाका यत्न करें यह अनुत्कृष्ट अंश है।

क्रोधमें अविवेकका प्रसार— क्रोध कषायमें यह जीव बेहोश हो जाता है। कर्तव्य अकर्तव्यका विवेक नहीं रहता है। गुस्सा ही तो है। उस गुस्सेमें जो कुछ कर आये। क्रोध कुछ अविवेकको लिए हुए होता है। यद्यपि ज्ञानी पुरुषके भी कभी क्रोध भी आ जाता तो भी विवेकको स्पर्श किए हुए होता है, एकदम अविवेक और अज्ञान भरा नहीं होता है। फिर भी जितने अंशमें विवेक है वह तो है ज्ञानका कार्य और जितने अंशमें अविवेक है वह है क्रोधका कार्य।

क्रोधसे स्वपरव्यपाय— क्रोधमें आकर मुनि द्वीपायन ने अपना सर्वस्व नाश किया और नगरीका भी नाश हुआ। द्वीपायन सम्यग्दृष्टि साधु थे। सम्यग्दर्शन और सच्ची साधुता आये बिना तैजस ऋद्धि नहीं प्रकट होती। उनके तैजस ऋद्धि थी। तैजस दो प्रकारका होता है—शुभ तैजस और अशुभ तैजस। वह ऋद्धिधारी किसी नगर पर, किसी समूह पर, किसी पर प्रसन्न हो जाय तो उसके दाहिने कंधेसे उत्तम ओज निकलता है और वह सबको भला करनेका कारण हो जाता है। उनको ही किसी कारणसे क्रोध आ जाय तो बायें कंधेसे गंदा, विकराल, लाल रंगका बिलाव जैसे आकारका तेजपुञ्ज निकलता है उसके निकलते ही उसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है, अपना विनाशकर लेता है और इस नगरका, उस समूहका, उस व्यक्तिका भी सर्वनाश कर देता है, प्राणघात कर देता है।

क्रोधविनाशकी शीघ्रतामें भलाई— क्रोधका थोड़ा भी उपजना बुरा है। थोड़ा भी उपजे उसही समय सावधानी कर ले। क्रोधके कारण दूसरों से जो वचनालाप हो जायेगा उसका विसम्वाद इतना बढ़ जायेगा कि पीछे चाहते हुए भी उस झगड़ेका मिटाना कठिन हो जावेगा। इस क्रोधकी कलुषताका परिहार करना, इसका नाम है मनोगुप्ति।

मानकी कलुषता— घमंड भी बहुत कलुषित भाव है। अचरज तो यह है कि घमंडी पुरुष घमंड करके, मान बगराकर, शान जताकर अपने को समझता है कि मैं श्रेष्ठ हो गया हूं, किन्तु सारी दुनिया उसे उल्लू, बेवकूफ समझ रही है। उस घमंडी पुरुषका इस यथार्थताकी ओर चित्त ही नहीं जाता है। मान कषाय तो उन्मत्त बना देता है। ऐसे मान कषायोंका परिहार करना सो मनोगुप्ति है।

मायाचारकी कलुपता— घमंड भी बहुत कलुषित भाव है। अचरज तो यह है कि घमंडी पुरुष घमंड करके मान बगराकर, शान जताकर अपने को समझता है कि मैं श्रेष्ठ हो गया हूं, किन्तु सारी दुनिया उसे उल्लू बेवकूफ समझ रही है। उस घमंडी पुरुषका इस यथार्थताकी ओर चित्त ही नहीं जाता है। मान कषाय तो उन्मत्त बना देता है। ऐसे मान कषायोंका परिहार करना सो मनोगुप्ति है।

मायाचारकी कलुपता— ऐसे ही माया कषाय बड़ी। कलुपता है माया छल कपट करनेको कहते हैं। मायाचारका परिणाम बहुत तीव्र कलुपता है। मनमें कुछ है, वचनमें कुछ कह रहे हैं, करना कुछ है, ऐसी अटपटी प्रवृत्ति इन जीवोंका कितना विनाश कर देती है? इस ओर मायावी पुरुषका ध्यान नहीं जाता है और कदाचित् मायाचार करके किसी दूसरे की आंखोंमें धूल झोंक दिया अथवा दूसरेका विनाश हो जाय तो उसमें वह मायावी पुरुष आनन्द मानता है। मायाचारसे बढ़कर कलुषभाव अन्य कषायोंको भी नहीं कहा गया है। मायाको शल्यमें शामिल किया है अन्य कषायका नाम शल्यमें नहीं लिया है। ऐसे मायाचार का परिहार करना इसका नाम है मनोगुप्ति।

लोभकी कलुपता— इसी प्रकार लोभ कषायका रंग भी बहुत गहरा रंग है। ये धन मकान जड़ पदार्थ जो अत्यन्त भिन्न हैं, अचेतन हैं जिससे इस आत्माकी कुछ भी भलाई नहीं है, बल्कि उनमें चित्त फंसा रहने से यह आत्मा नरककी ओर जा रहा है, पतन कर रहा है अपना। रहना अंतमें कुछ नहीं है, छोड़ देना पड़ेगा ही, किन्तु तृष्णा बनी रहे, धन वैभव में उपयोग बसा रहे तो गति और बिगड़ेगी। रहना तो कुछ है ही नहीं। गति और बिगाड़ ली जाती है। लोभ कषायका परिहार करना इसे कहते हैं मनोगुप्ति। साधुओंके मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति--ये तीनों विशुद्धि हो जाती है, सो प्रायः करके उन्हें अवधिज्ञान अथवा मनःपर्ययज्ञान प्रकट हो जाता है।

गुप्तिके प्रतापका एक उदाहरण-- एक कथानकमें बताया है कि जब राजा श्रेणिकने रानी चेलनासे बहुत हठ किया कि तुम इस जगह साधुको आहार करावो और उस जगह हड्डियां भरवा दीं। चेलनाने उस जगह खड़े होकर यों पड़गाहा था, हे त्रिगुप्तिधारक महाराज! तिष्ठ। एक मुनि आया और एक अंगुली उठाकर चला गया, रुका नहीं। दूसरा मुनि आया वह भी एक अंगुली उठाकर चला गया। तीसरा मुनि आया वह भी एक अंगुली उठाकर चला गया और एक मुनि आया वह ठहर ही

नहीं, मौनपूर्वक चला गया। जब कारण विदित किया गया तो मालूम हुआ कि एक मुनिने यह कहा कि मेरे मनोगुप्ति सिद्ध नहीं हुई। त्रिगुप्ति धारक कहकर पुकारा था। उन्होंने कथा भी बताई। समय नहीं है और न प्रसंग है। एकने बताया था कि मेरे वचनगुप्ति सिद्ध नहीं है, एकने बताया कि मेरे कायगुप्ति सिद्ध नहीं है और जिसको तीनों गुप्तियां सिद्ध हो गयीं उसने सोचा कि त्रिगुप्तिधारक मुनिराज कहकर यह क्यों पुकार रही है। झट कारण जाना अवधिज्ञानसे, अशुद्ध स्थान है, यहां आहार नहीं लिया। तो यही वैभव और यही महान् पुरुषार्थ है। मनका वशमें रखना, मनका शुद्ध रखना, चारों कषायोंका परिहार करना—इसे मनोगुप्ति कहते हैं।

भैया! इतनी तो कमसे कम अपने लिए भी शिक्षा लें कि यदि मनसे सब प्राणियोंके हितकी बात सोची जाय तो उसमें तुम्हारा भला ही है, बिगाड़ कुछ नहीं है। तुम केवल भाव ही बना सकते हो। किसी दूसरे का कुछ कर नहीं सकते। जब केवल भाव बनाने तक ही तुम्हारी हद है तब शुद्ध भाव ही क्यों न बनाये जायें। सर्वप्राणियोंका हित सोचें सर्वसुखी हों, शुद्ध दृष्टि बने, ज्ञानका उजेला पायें। ज्ञानसे बढ़कर इस जीवका लाभ लोकमें कुछ नहीं है। शुद्ध ज्ञान ही शरण है। बड़ी सम्पदा हो, राजपाट हो, फिर भी ज्ञान विपरीत है, अट्टसट्ट है, अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति है तो उसे चैन तो न मिलेगी, अशांति ही रहेगी। और कोई दूसरा धनहीन भी है अथवा धनका त्याग करके संन्यासी हुआ है, वह तो अपने आपमें ज्ञान-सुधारसका स्वाद लिया करता है। ज्ञान ही सुख शांतिका परम आधार है। इसलिए सही ज्ञान रहे, सब जीवोंके प्रति हमारा पवित्र परिणाम रहे, किसीको भी कष्ट मेरी चाहसे न आये, ऐसी वृत्ति बनाना हम सबका कर्तव्य है। यों मनको वशमें रखने वाले साधुजन चारों प्रकारकी कषायों का परिहार करते हैं।

मनुष्यको मनोगुप्तिकी आवश्यकता— संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय पाकर भी इस जीवको मनकी हैरानीसे इतना विह्वल होना पड़ता है कि जिसमें बहुत अधिक कर्मबन्ध हो जाया करता है, इतना कर्मबंध असंज्ञी पंचेन्द्रिय नहीं कर सकता। चौइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, दोइन्द्रिय इन सबमें उत्तरोत्तर कर्मोंकी स्थिति कम बँधनेकी योग्यता है। सर्वाधिक कर्मोंकी स्थितिका बंध संज्ञी पंचेन्द्रिय कर पाता है। यह मन बिगड़ता है तो ऐसा बिगड़ता है कि ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिका महान कर्म यह ही बांधता है मनको वशमें करना यह शान्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। मनसे जैसा

चाहे वैसा प्रवर्तन करना मायामय इस दुनियामें इस मायामय रूपको देख कर इनमें अपनी शान चाहना, इनमें अपना बड़प्पन चाहना, मनको यों स्वच्छन्द चलाना, ये क्लेशके ही कारण हैं। संतजनोंका आभूषण, सर्वोत्कृष्ट आभूषण मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति वहां हो सकती है जहां मोहका अभाव है।

मोहविस्तार— मोह होते हैं दो प्रकारके। दर्शनमोह और चारित्र मोह। दर्शनमोहमें श्रद्धा बेहोश रहती है और चारित्रमोहमें चारित्र बेहोश रहता है। दर्शनमोहका नाम है अज्ञान और चारित्रमोहका नाम है राग और द्वेष। अज्ञान, मोह, मुग्धता, मूढ़ता, पर्यायबुद्धि, बहिरात्मापन ये सब दर्शनमोहकी लीलाएँ हैं। रागद्वेष सुहा जाय, न सुहा जाय यह सब चारित्र मोहका विलाश है। कैसी स्थितियां होती हैं कि अन्तरमें दर्शनमोह रंच नहीं है, निजको निज परको पर यथार्थरूपसे जान रहे हैं, फिर भी कैसी पुरातन प्रेरणा है कि इस ज्ञानी संतको भी किन्हीं परिस्थितियोंमें कुछ सुहाये और कुछ न सुहाये—ऐसी स्थितियां आती हैं। इन स्थितियोंमें उसका तो आभार मानों, धन्यवाद मानों, जो इतनी स्वच्छता आयी है कि दृष्टि कलंकित नहीं हो रही है। फिर भी इतना खेद है कि भिन्न पदार्थोंके प्रति कुछ सुहा जाने और कुछ न सुहा जानेका परिणाम हो रहा है।

मोह और राग द्वेषमें अन्तर— मोहमें और रागद्वेषमें अन्तर है। कोई रोगी इलाजके खातिर औषधि पीनेमें रागद्वेष कर रहा है तो औषधि विषयक उस रोगीके रागद्वेष तो हैं, किन्तु औषधिसे मोह नहीं है। औषधिसे राग है, यदि दवा न मिले समय पर तो द्वेष भी हो जाता है, जो समय पर औषधि दे दे उससे राग भी हो जाता है, पर औषधिसे मोह रंच भी नहीं है। ऐसे ही ज्ञानी पुरुषकी ऐसी मोहनीय स्थिति हो जाती है कि विषयभोगोंमें, परपदार्थोंमें, मौजमें, मोह रंच नहीं है। फिर भी कुछ प्रेरणा है ऐसे संस्कारोंकी और बाह्यमें कर्मोदयकी है कि इसे फिर भी कुछ राग और द्वेष हो जाता है। मनोगुप्ति उसके होती है जिसके दोनों प्रकार का मोह नहीं होता। मोहका परिहार किया जा रहा हो। जैसे दूसरेका बालक रूपमें भी सुन्दर हो और चतुराईकी बातें भी बोलता हो, साथ ही विनयशील और आज्ञाकारी भी हो, सबको पहिले प्रणाम कर देता हो, तो वह सुहा तो जाता है पर उसमें मोह नहीं रहता है जब कि अपने घरका पैदा बालक चाहे आज्ञा न मानता हो, कुछ थोड़ा रूपमें भी हीन हो फिर पर भी मोह रह सकता है। मोहसे बढ़कर कलंक कोई नहीं है इसको।

समागममें प्रसन्नताका अकारण— भैया! कितना श्रेष्ठ मनुष्यभव

पाया है ? हम अपने जगत्के जीवोंपर दृष्टि पसार कर देखें तो सही कि हम आपने कितनी ऊँची स्थिति पा ली है ? अब ऐसे अनुपम जीवनमें अपने आत्माके दर्शन और अनुभवका आनन्द न लूटा तो फिर काहेके लिए यह जीवन हुआ ? किसीसे कहा जाय कि हम तुम्हें दो दिनके लिए राजा बनाए देते हैं, दो दिन बाद तुम्हारे पास जो भी अट्टसट्ट है यह सब छीन कर तुम्हें तौलिया मात्र पहिना कर जंगलमें फेंक दिया जायेगा। ऐसे दो दिनके राज्यको कौन चाहेगा ? ऐसे ही यह मनुष्यभव क्या है ?, दो दिनको राजा बन गया है। देखो ना, बड़ेसे बड़ा बलवान भैंसों पर, ऊंटों पर हाथियों पर अपना राज्य चलाता है, अंकुश चलाता है, हुकूमत चला रहा है। राजा है यह मनुष्य। यह जब अन्य बड़े मनुष्यों पर दृष्टि डालता है तो अपनेको तुच्छ अनुभवने लगता है, किन्तु व्यापक दृष्टिसे लोकके सकल जीवों पर दृष्टि डालकर निहारो तो जरा, कितनी श्रेष्ठ स्थिति पायी है राजापनेकी ? पर बनाया तो है तुम्हें दो दिनका राजा, लेकिन इसके बाद तुम्हारे पास जो कुछ अट्टसट्ट है वह भी सब छुड़ाकर तुम्हें दुर्गतियोंमें पटक दिया जायेगा, ऐसी स्थिति मालूम हो तो कौन प्रसन्न होगा दो दिनके राज्यमें ?

विपदाके पूर्ववर्ती सुखमें क्या आराम— जिसे फांसीका हुक्म होता है उसे फांसी पर चढ़ानेसे पहिले, उसके आगे मिठाइयोंका थाल रक्खा जाता है, खूब छक्कर खावो जीवनमें भी न देखा हो ऐसा मिष्टान तो उसे मिठाई खाना न रुचेगा, उसकी दृष्टि तो दूसरी जगह है। यों ही इस संसार महावनमें बड़ी-बड़ी दुर्गतियां हो रही हैं, ऐसी स्थितियोंके बीचमें जिस ज्ञानी संत पुरुषको संसारकी असारता विदित है उसे अनेक भोग साधन भी प्राप्त हो जायें तो क्या वह उनमें चैन मानेगा ? नहीं मानेगा।

निर्मोहताकी प्रतिमूर्ति— साधुसंत क्या है ? भगवानकी एक प्रतिमूर्ति है। भगवानकी मुद्रा और साधुकी मुद्रा दोनों एक प्रकार हैं सो ही निर्ग्रन्थ भगवान्, सो ही निर्ग्रन्थ साधु। बाह्य तो एक रूप है, और यदि कोई अंतरंगमें गृहस्थसे भी गया बीता हो तो उसमें फिर क्या बात हुई ? कुछ भी नहीं। किन्तु अन्तरंगसे प्रभुसे होड़ लगाये हुए हो, वीतरागताकी प्रगतिमें चल रहा हो वह साधु तो भगवानकी प्रतिमूर्ति है। ऐसे साधु संतोंके मोहका परिहार होता है। जहां मोहका परिहार है वहां मनोगुप्ति है।

मनोगुप्तिमें आहार संज्ञाके परिहारमें— जहां संज्ञावोंका परिहार है वहां मनोगुप्ति हैं। संज्ञाएँ चार हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह। आहारविषयक वाञ्छा होना सो आहार संज्ञा है। इससे पहिले एषणा

समितिके प्रकरणमें यह स्पष्ट आया था कि साधु संत आहार करके भी अनाहारी रहा करते हैं। उसमें भी जितने मात्रमें आहारविषयक वृत्ति है, आहार विषयक वाञ्छा है वह आहार संज्ञा है। उस आहार संज्ञाका भी जहां परिहार हो वहां मनोगुप्ति है।

शून्यता व परिपूर्णता— भैया! सच बात तो यह है कि इतना साहस होना चाहिए कि अपनेको ऐसा मान ले कि मैं दुनियाके लिए कुछ नहीं हूं, मैं हूं तो अपने लिए हूं अर्थात् दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिए, दूसरोंमें बड़ा बननेके लिए मैं कुछ नहीं हूं, अपनेको शून्य समझे। शून्य रीता होता है कि पूर्ण? पूर्ण होता है। शून्य दिखनेमें यों लगता है कि रीता होता है, मगर शून्य पूर्ण होता है। शून्यमें ऐसी पूर्णता है कि उसमें यह भी विदित नहीं होता कि यह कहांसे शुरू होता है और कहां खतम होता है? बना लो शून्य सलेट पर बनाकर किसीको दिखाओ कि शून्य शुरू कहां से हुआ और खतम कहां हुआ? जब शून्यका आदि नहीं है और अंत नहीं है तो बीच क्या होगा? तो जैसे शून्य आदि अंत मध्य करि रहित है, यों ही मैं शून्य हूं, आदि मध्य अन्त करि रहित हूं। व्यवहार दृष्टिसे मैं दूसरे पदार्थके लिए कुछ नहीं हूं इसलिए शून्य हूं और निश्चयदृष्टिसे मैं अपने आपमें आदि मध्य अंतसे रहित हूं, परिपूर्ण हूं, सो शून्य हूं, परसे विविक्त हूं। रीता कौन होता है जो शून्यसे मिट कर कुछ पसरना चाहता है। वही प्लेट पर लिखा हुआ शून्य अपनी शून्य अवस्थाको छोड़कर कुछ यदि पसरना चाहेगा तो उसमें आदि, मध्य, अंत व अधूरापन हो जायेगा। अपनेको शून्य न देखकर कुछ बननेकी कोशिश करना यह अधूरापन है। अपनेको निरखो कि मैं समस्त परपदार्थोंसे विविक्त हूं और अपने आपमें परिपूर्ण हूं।

धर्म व शान्तिका एकाधिकरण— प्रतिष्ठापना समितिमें आया था कि मल मूत्र करना शरीरके धर्म हैं और फिर खाना पीना—ये भी शरीरके धर्म हैं। आत्माका धर्म ज्ञाता द्रष्टा रहना है। जहां धर्म है वहां नियमसे शांति है। लोकमें जो यह प्रसिद्ध हो गया है कि जहां धर्मके झगड़े हैं वहां देशकी बरबादी है। और झट समझमें भी आता है, इतिहासोंमें भी देखो जितने झगड़े फसाद हों, बरबादी हो, कलह हो वे सब धर्मके नाम पर हैं। आजकल जितने सम्प्रदायके विवाद चलते हैं वे सब धर्मके नामपर चलते हैं। अरे धर्मसे विवाद नहीं, धर्मसे अशांति नहीं किन्तु धर्मके साथ जो पाप लगे हुए हैं, धर्मकी ओटमें जो पाप आगे चल रहा है उससे विवाद झगड़े हैं।

धर्मकी ओटमें पापका प्रसार— एक किसान था। उसके थे तीन बैल। ऐसी हालतमें तो दो ही बैल जुतेंगे, सो एक बैलको घरमें बांध आता था और बांध जाता था आंगनमें, जिस जगह उस जगहकी भींतमें एक अलमारी थी, जिसमें किवाड़ भी लगे थे, सांकर भी लगी थी। सो जाते समय वह दाल रोटी चावल उस अलमारीमें धर जाता था, सांकर लगा देता था। जब वह खेतोंसे वापिस आता था तो देखे कि अलमारीमें कुछ नहीं है। और यह देखे कि बैलका मुँह दालसे भिड़ा हुआ है। होता क्या था कि एक बंदर आया करता था, वह धीरेसे सांकर किवाड़ खोले और भोजन कर जाय, अंतमें जो दाल चावल बच जाय उसे उस बैलके मुखमें लगा दे। कुछ दिनों तक वह देखता रहा। एक रोज उसे बड़ा गुस्सा आया सो वह उस बैलको पीटने लगा। किन्तु पड़ौसियोंने कहा कि इतनी निर्दयतासे तू इस बैलको क्यों पीटता है? वह बोला—अरे पीटें नहीं तो क्या करें। हम रोज-रोज भोजन बनाकर रख जाते और यह बैल रोज इस अलमारीसे निकाल कर खा जाता है। लोगोंने कहा अरे ऐसा कैसे हो सकता है? इसमें सांकर लगी रहती है, अलमारी ऊँची है वह कैसे खा लेता है? किसान ने कहा देखो ना मुखमें दाल रोज लगी रहती है। तो पड़ौसियोंने समझाया कि यह बात नहीं है, किसी दिन छिपकर देख लो कि मामला क्या है? छिपकर उसने देखा तो क्या देखा कि धीरेसे एक बंदर आता है वह जंजीर खोलकर किवाड़ खोलकर सारा भोजन खा जाता है और बचे हुए दाल चावलको अंतमें बैलके मुखपर लगा देता है।

अप्रभावनाका कारण पाप— तो प्रयोजन इसमें इतना है कि जैसे बंदरकी करतूतसे बैल पिटा, ऐसे ही पापकी करतूतसे धर्म पिटता है। धर्ममें दोष नहीं है। धर्म तो आनन्द और शांतिके लिए है। भला साधु हो गये, नदीके तट पर रहने लगे, संन्यासी हो गये, ठीक है। संन्यासी इस लिए हुए कि सर्वचिंतावोंको छोड़कर अपने आपके शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का खूब चिंतन करें और शुद्ध आनन्दका अनुभव किया करें। ज्ञाताद्रष्टा रहें, यह है संन्यासी होनेका उद्देश्य। पर जब यह प्रवृत्ति चल जाय कि कोई बहू बेटी वहांसे निकल आये या कोई पुरुष निकल आये तो उससे कुछ छल करे, कुछ अनुचित वृत्तियां करे तो साधु समाजकी बदनामी हो जाती है। कैसे साधुसमाज आज हो गये हैं कि लोग कहते हैं कि फलाने तीर्थपर जानेका तो धर्म ही नहीं है, न जाने कोई कैसे फंस जाय, किसीके चंगुलमें आ जाय, यह अपवाद बन गया। यह धर्मका अपवाद नहीं है। धर्मकी ओटमें जो पापका प्रसार होता है उसकी करतूत है।

धर्मका वास्तविक पालन— धर्म तो ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें है। हम आत्मा हैं, हमें अपना धर्म करना है। हमारा धर्म जो सम्प्रदायरूपमें फैला है वह नहीं है। मैं तो ज्ञान, दर्शन स्वभावी चैतन्य सत् हूं। मैं मनुष्य नहीं हूं। फिर मनुष्यताके नाते से जो कोई अटपट बातें प्रसिद्ध हैं उनमें कुछ अच्छा है, करे, सहायक है, करे तिस पर भी अच्छा हो तो, बुरा हो तो वे सब आत्माके धर्म नहीं हैं। आत्माका धर्म है ज्ञानदर्शन, ज्ञाता द्रष्टा रहना। जैसा इसका स्वतंत्र स्वतः सहजस्वरूप है उस स्वरूप रूप विकास होना यह है धर्म। इस आत्मधर्मका पालन जो करे वही धर्म करता है। इस ओर दृष्टि रहनी चाहिए।

मनोगुप्तिका मूल उपाय— वस्तुस्वरूपको यथार्थ बताने वाला जैन शासन पाकर भी हम वस्तुपद्धतिसे धर्म न करें तो बड़े खेदकी बात है। हम जैन हैं, हमें जैन धर्मके अनुसार हाथ पैर चलाने चाहियें ऐसे आशय की चेष्टामें धर्म नहीं है। मैं तो एक चेतन सत् हूं, ऐसी प्रतीति के सहारे अपने अंतस्तत्त्वमें प्रवेश करे और ज्ञाताद्रष्टा रहेगा तो इसे मिलेगा धर्म। ऐसा करना प्रत्येक कल्याणार्थीका कर्तव्य है। इस धुनको रखकर हमें अपने उस चैतन्यधर्मकी प्रगति करना है मन, वचन, कायके कार्योंको गुप्त करना है, वश करना है, दूर करना है और अपना जो शुद्ध सहज ज्ञायक-स्वरूप है उसका विकास करना है। साधुसंतजन ऐसी ही मनोगुप्तिका यत्न करते हैं।

अपमानामृत—जिन संत पुरुषोंने अपने मनको वश किया है उनके आहारसंज्ञाका अनुराग होना तो दुर्गम बात है। साधुसंत इतने हृदयमें स्वच्छ और बली होते हैं कि उनका कितना भी कदाचित् अपमान हो जाय तो वे अपने मनमें कलुषित भाव नहीं लाते हैं। लौकिक जनोंको अपमान जहां विषवत् है, वहां साधुजनोंको अपमान शृङ्गार है। अपमान का अर्थ ही यह है कि अपगत हो गया है मान घमंड जिसमें। अपमान होना उत्तम बात है। मान न रहे उसका नाम अपमान है, किन्तु लौकिक-जनोंके लिए अपमान मरणकी तरह है किन्तु सम्यग्दृष्टिके लिए, ज्ञानी संत पुरुषोंके लिए अपमान अमृतकी तरह है। हो किसी ज्ञानीमें ऐसी धुन कि वह चाह करे कि मेरे लिए विपरीत प्रसंग आयें और उनही प्रसंगमें क्रोध पर विजयी रहूं, मेरे लिए अपमानके अनेक प्रसंग आयें और मैं मान कषाय पर विजयी रहूं। माया और लोभीकी तो वहां चर्चा ही नहीं है। ऐसे साधु संत पुरुष आहारसंज्ञासे दूर रहते हैं। मनोगुप्तिमें ये सब लक्षण आये हुए हैं।

भयसंज्ञाके परिहारमें मनोगुप्ति-- जहां भय संज्ञाका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति है। भय लगा हुआ हो और मन वश रहे, यह कभी हो ही नहीं सकता। मनोगुप्ति जहां है वहां भयका नाम कहां है ? निर्भय हों तो स्वरक्षा है, मनकी गुप्ति है। इस मोही प्राणीके निरन्तर भय बना रहता है। कोई भय जब अधिक डिग्रीपर पहुंचता है तब अनुभवमें आता है। अनेक भय अनगिनते भय इस मोहीमें आते हैं और उन्हें वह महसूस भी नहीं कर पाता है। परपदार्थोंमें यदि राग है तो भय भी नियमसे होता है, चाहे वह कितनी ही मात्राका भय हो। ज्ञानीसंत जानता है कि मेरा आत्मतत्त्व समस्त परभावोंसे विविक्त केवल चैतन्यस्वरूप मात्र है। मैं तो मात्र इतना ही हूं, इससे अधिक मैं कुछ नहीं हूं। इससे जो अधिक है वह सब व्यवहारखातेका हिसाब है। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। साधु पुरुष निर्भय है और निर्भयताके कारण मनोगुप्तिमें प्रगतिशील है।

मैथुनसंज्ञाके परिहारमें मनोगुप्ति— जहां मैथुनसंज्ञाका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति आती है। कामवासनाका भाव जब कुछ अधिक बढ़ जाता है तब वह महसूस होता है, उसका पता पड़ता है किन्तु कामकी भी अनेक डिग्रियां अनेकों अनगिनती हैं ऐसी कि जिनके होने पर भी यह जीव मालूम ही नहीं कर पाता कि मेरे कामभाव चल रहा है। जब उसकी अधिक मात्रा होती है तब इसे पता पड़ता है कि कामवेदनाका अनुभव होता है तथा विवेक जागृत हो तो सोचता है-- ओह यह मैं अनुचित भाव वाला हो रहा हूं। पशु पक्षी कीड़ा मकौड़ा इन सबके काम भाव है, ये क्या महसूस करें ? साल दो सालके बच्चे ६ माहके बच्चे इनमें भी कामभाव है, पर ये भी महसूस नहीं कर पाते। कामभावका जहां परिहार है वहां ही मन वशमें है। लोग कहते हैं कि हमारा मन वश नहीं है, कोई उपाय बतावो कि हमारा मन वश रहे, यहां वहां न डोले। जब स्वयं अपराधी है तो मन वशमें कहां रहेगा ?

अपराध, फल व निवृत्तिका उपाय— देखो डाकुवोंका मन अत्यन्त अस्थिर रहता है, वे किसी ठिकाने बैठ नहीं पाते हैं क्यों कि उन्होंने अक्षम्य अपराध किया है। आहारकी संज्ञा, भयका संस्कार, मैथुनकी वाञ्छा, परिग्रहका लगाव--ये भी महान् अपराध हैं। इतने बड़े अपराध को करने वाला यह अपने मनको कैसे स्थिर रख सकेगा ? अपराधको दूर करें फिर मन स्थिर न हो तब तुम्हारी शिकायत हो कि मेरा मन स्थिर नहीं है। यत्न करें अपराधके दूर करनेका। वह यत्न है वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान। प्रत्येक जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न है, द्रव्य गुणपर्याय

सर्वचतुष्टय परका परमें ही हैं मेरा मुझमें ही है; किसीकी कितनी ही चेष्टावोंसे कितनी ही पोलें बताने से, कितने ही मनके दुर्ध्यानोंसे इस मुझ में रंच भी परिणमन नहीं होता, हो ही नहीं सकता। वस्तुमें वस्तुका वस्तुत्वका बड़ा दृढ़ दुर्ग है, जिसमें अन्य वस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता। फिर मेरे लिए इस लोकमें भय क्या है ? मैं ही भीतरमें भयकी बात रक्खूँ तो भय सामने आ जाता है।

निर्भयमें भयका उद्गमस्थान— खरगोशके पीछे शिकारी कुत्ते जब छोड़े जाते हैं तो खरगोश छलांग मारकर बहुत आगे निकल जाता है और एक बड़ी गुप्त झाड़ीमें छिप जाता है जिस झाड़ीमें बहुत निगाह करके देखने पर भी खरगोशका पता नहीं पड़ सकता। वह खरगोश उस झाड़ीमें सुरक्षित रहता है। कुत्ते भी वापिस लौटने वाले हैं। बहुत दूर रह गये हैं, लेकिन खरगोश अपने भीतरमें कल्पनाएँ बनाता है। कहीं कुत्ते आ तो नहीं रहे हैं ऐसा देखनेके लिए झाड़ीसे बाहर निकलकर देखता है। लो कुत्तोंने देख लिया, अब फिर पीछा करने लगे। अरे झाड़ीमें बैठा था बड़ा सुरक्षित था, रंच भी क्लेश न था, किन्तु भीतर ही एक भय बनाया तो बाहर भी भय आ गया। यों ही ज्ञानी समझता है कि मेरा स्वरूप परपदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है, स्वयं सुरक्षित है। इस मुझका सामर्थ्य नहीं है कि किसी अन्यमें बिगाड़ कर सके। किन्तु यहां ही एक कल्पना उठती है चित्तमें और पर वस्तुमें अनुराग करके अपनी पर्यायमें राग करता है। मैं मनुष्य हूं, अरे जब यह मान चुका कि मैं अमुक चंद हूं, अमुक लाल हूं तो अब उसे इस अमुककी शान बढ़ानी पड़ेगी। अरे बाहरमें किसीकी शान रह ही कैसे सकती है ? जब कल्पित विपरीत घटनाएँ आयेंगी तो उन घटनावोंमें दुःखी होंगे।

न कुछसे कुछकी विडम्बना— भैया ! यह दृश्यमान विडम्बना है क्या जगत्में। न कुछसे कुछ पैदा हो जाय ऐसी कोई मिसाल है तो वह है जीवकी एक कला और इसीलिए अन्य लोग यह कहते हैं कि यह ईश्वर सृष्टि रचता है। कुछ भी न था और केवल एक भावमात्र कर लेनेसे ये शरीर, ये पशु पक्षीके ढांचे, ये विभिन्न प्रकारके शरीर कैसे बनते चले जा रहे हैं ? यद्यपि यहां भी प्रत्येक द्रव्य स्वयंका उपादान है जो अपनी अपनी सृष्टि बनाता हुआ चला जा रहा है, किन्तु जीवका यह विभाव इन सब सृष्टियोंका निमित्त तो हुआ ना। जो ज्ञानीपुरुष वस्तुके यथार्थस्वरूप को समझते हैं उनका ही मन वशमें हो सकता है अन्यथा नहीं। इस मोही प्राणीके सिर पर कितने संकट लदे हुए हैं ? घर जावे तो घर चैन नहीं

है, देशमें कहीं जावे तो वहां चैन नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो वहां पहुंचे तो वहां भी चैन नहीं। अरे आत्मन् हे मूढ़, हे मोही, हे पर्याय के आशक्त, हे आत्मघाती तू बाहरमें चैन कहां ढूंढ़ने चला है? तू स्वयं आनन्दमय है। बाहरकी आशा तज दे, अपने ही अंतःस्वरूपको निहार ले, तुझे तो प्राकृतिक देन है कि तू चैनमें रहे। वस्तुस्वरूपके विपरीत श्रद्धानी को कहीं चैन नहीं है। सर्वत्र विडम्बना है, सर्वत्र आपत्ति है।

बेवकूफको फजीहतकी चिन्ता क्यों— एक मियां बीबी थे। मियां जी का नाम था बेवकूफ और स्त्रीका नाम था फजीहत। प्रायः दोनोंमें लड़ाई हो जाया करती थी और थोड़ी ही देरमें दोस्ती हो जाती थी। एक बार ऐसी लड़ाई हुई कि फजीहत घर छोड़कर भग गयी। तो बेवकूफ पड़ोसियोंसे पूछता फिरता है कि तुमने हमारी फजीहत देखी? लोग जानते थे कि फजीहत इसकी स्त्रीका नाम है सो कह दिया कि हमने नहीं देखी। इसी तरह उसने दसोंसे वही बात पूछी। एक बार किसी परदेशी अपरिचितसे पूछ बैठा कि भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? उसकी समझमें कुछ आया नहीं सो वह पूछता है कि तुम्हारा नाम क्या है? मियां साहब बोले कि मेरा नाम बेवकूफ है। तो अपरिचित पुरुष कहता है कि बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतकी तलाश कर रहे हो। अरे बेवकूफ को तो जगह-जगह फजीहत मिल जाती है। जहां ही औंधासीधा बोल दिया, वहां ही जूता, घूँसा, लाठी खानेको मिल गये। बेवकूफ होकर भी तुम फजीहतकी चिंता क्यों करते हो?

मुग्धबुद्धिकी विडम्बनायें— ऐसे ही मोही जीवोंमें चूँकि मुग्धबुद्धि है इसके कारण इसे जगह-जगह विडम्बनाएँ हैं, कहीं जावे, कहीं बैठे इसे सर्वत्र विपदा है। कहां जायेगा? किसी स्थानपर जानेसे सुख दुःखमें अन्तर नहीं आता। परिणामोंमें अन्तर आनेसे सुख दुःखमें अन्तर आया करता है। यह ज्ञानी संत यथार्थस्वरूपका ज्ञाता है। इसके बलको कौन कह सकता है? लोग कहते हैं कि एटमबमसें बड़ी ताकत है। ऐटमको अंग्रेजीमें लिखो कैसे लिखते हो? उसी का नाम है आतम। अरे आत्मामें बल है, ऐटममें क्या बल है? आत्माके बलकी कुछ कथनी नहीं की जा सकती। अभी-अभी आपके आंखोंके आगे ही गांधी जैसे नेतावोंने यह प्रदर्शित कर दिया कि हथियार न होने पर भी, धन पैसा न होने पर भी एक आत्माका यदि बल है तो उस आत्मबलसे इतना बड़ा एक वातावरण किया जा सकता है, साम्राज्य लिया जा सकता है।

पुनीत आत्माकी भक्तिमें यत्न— कोई पवित्रात्मा विभावका समूल

नाश करके अरहंत हो गये तो देवइन्द्र मनुष्य सभीके सभी अपनी पूरी सामर्थ्य लगाकर समारोह शोभा भक्ति किया करते हैं। वह क्या है? वह आत्मबलका प्रताप ही तो है। जब ही अरहंत स्वरूपकी स्मृति होती है, रागद्वेष जहां रंच नहीं हैं केवल शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूप है ऐसे ज्ञान मात्र उस शुद्ध परमात्मतत्त्वकी स्मृति होती है तो चित्तभक्तिसे गद्गद् हो जाता है। ओह! जिन पुत्र, मित्र, स्त्रीके खातिर जिन बंधु, मित्रोंके खातिर जिन रिश्तेदार, देवर, पति आदि पुरुषोंके खातिर अपना जीवन तन, मन धन न्यौछावर कर करके व्यतीन कर डाला। अंतमें फल क्या निकला? कुछ भी नहीं। रीताका रीता, बल्कि जो कुछ पूर्वजन्ममें लाये थे शुद्ध संस्कार वह भी गंवाकर चला। इसकी प्रीतिमें रंचहित नहीं है। किन्तु उन अरहंतकी प्रीतिमें, इस धर्ममय आत्मतत्त्वकी प्रीतिमें महान् हित है। जिस किसी भी महाभागसे बने, कायदे मुताबिक प्रीति करो। ज्ञानमूर्तिकी भक्तिसे क्षण भरमें ही भव-भवके संचित कर्म दूर हो जाते हैं।

यथार्थज्ञानबलसे मनोगुप्तिके धारणका स्मरण--वस्तुस्वरूपका जैसा यथार्थज्ञान है और उस ज्ञानके परिणाममें जिसने अपना प्रायोगिक परिणमन समतारूप बनाया है ऐसे ज्ञानी संत पुरुषके मनोगुप्ति होती है जहां परिग्रहका रंच भी संस्कार है वहां मनोगुप्ति नहीं होती है। देखो ज्ञानी गृहस्थमें भी इतना आत्मबल है कि लाखों करोड़ोंकी प्राप्त हुई सम्पदासे भी अत्यन्त न्यारा भिन्न ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीति रख सकता है। तब इससे अंदाज लगावो कि साधु पुरुषके परिग्रहसे कितनी परमविरक्ति होगी? उनको तो उनका आत्मा उनके हाथ पर रक्खे हुएकी तरह स्पष्ट बना रहता है। जहां परिग्रहका परिहार है वहां मनोगुप्ति होती है। पंचमहाव्रत पंचसमितियोंका पालन करनहार साधुसंतोंको साधु संतोंको महाव्रत और समितिमें ही संतोष नहीं रहता है। वे इन तीन गुप्तियोंके अर्थ ही अपना अंतःप्रयत्न रखा करते हैं। गुप्तियोंमें न ठहर सकें तबका काम है महाव्रत और समिति। गुप्तियोंमें श्रेष्ठ मनोगुप्ति है। यद्यपि कायगुप्ति, वचनगुप्ति भी साधनामें बड़े सहायक हैं किन्तु ये भी गुप्तियां दोनों क्यों की जा रही हैं कि मनोगुप्ति बने। जहां आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चारों संज्ञावोंका परिहार है वहां ही मनोगुप्ति होती है। मिले तो कोई ऐसा निग्रह परपदार्थोंके सम्बन्धसे अपने महत्त्वकी प्रतीति न रखने वाला, सबसे न्यारा, वह प्रायः सबका प्यारा हो जाता है। जिनका मन वश नहीं है उनका जीवन क्या जीवन है? वे व्याकुल रहते हैं और चिंतित रहते

हैं। सर्वप्रयत्न करके अपनी मनोगुप्तिको संभालना चाहिए।

साधुपुरुषके रागद्वेषका परिहार— मनकी गतिको स्वरूपानुभवके विरुद्ध जानकर इस मनको वशमें रखनेके उद्यमी साधुसंत जन सदा सावधान रहते हैं। जिन कृत्योंमें राग और द्वेषकी प्रवृत्ति विदित होती है उसे वे दूर कर देते हैं। ऐसे प्रसंगोंमें रागद्वेषकी बातकी कथा दूर रही, जब कोई भी धर्मचर्चा करता है और उस चर्चाके मध्य कभी कोई बात समताकी सीमासे कुछ अधिक हो जाती है अथवा होने लगती है यह उस धर्मचर्चा को भी समाप्त कर देता है। जिस प्रसंगमें राग अथवा द्वेषकी स्थिति हो वह धर्मचर्चा नहीं है। वह तो अपनी हठोंका पक्षोंका इच्छाका संपादन करना है। धर्मचर्चाके समय यदि कोई अपनी बात नहीं मानता है और उसपर अपनेको खेद होता है तो यह अपना अपराध है। यदि वहां खेद होता है तो समझो कुछ धर्मचर्चा न कर रहा था वह, किन्तु अपनी हठचर्चा कर रहा था तब उसे दुःख हुआ। यदि वह मात्र धर्मचर्चा होती तो न मानने पर कुछ भी विषाद न होता। ज्ञाताद्रष्टा रहना। जगतमें अनन्त जीव तो हैं जो धर्मसे विमुख हैं। एक जीवने, दो जीवोंने बात न मानी उसका इतना बड़ा विषाद बन जाना, यह तो मोहको जाहिर करता है। धर्मचर्चा के प्रसंगमें साधुसंतोंके राग और द्वेष नहीं रहता है।

मनोगुप्तिमें शुभ अशुभ दोनों रागोंका परिहार— राग दो तरहके होते हैं। एक शुभ राग, दूसरा अशुभराग। शुभराग तो वह है जहां धर्ममें लगनेका कुछ प्रसंग है। गुरुभक्ति, देवपूजन, स्वाध्यायकी व्यवस्था, सत्संग परोपकार, दान आदिक ये सब शुभ राग हैं। अशुभ राग वह है जिसके माध्यमसे विषय और कषायोंको बल मिलता है। अशुभ रागकी बात अधिक क्या कहें सारा जहान प्रायः अशुभ रागमें ही लीन है। मनोगुप्ति वहां ही संभव है जहां शुभराग और अशुभराग दोनोंका परिहार है। ज्ञानी संतोंको अपने आपके उस शुद्धस्वरूपके जौहरका इतना अधिक परिचय है कि उसे शुभराग भी यों दिखता है जैसे लोग कहते हैं—ऐसा सोना किस कामका जो नाक कानको फाड़ दे।

शुभरागमें रागके आशयकी कथा— भैया! शुभरागमें जिन्हें राग है उनकी कथा भी थोड़ी सुन लीजिये। शुभरागसे ही हमारा कल्याण है, हमें यह राग करना ही चाहिए। इस रागसे ही मेरा बड़प्पन है सो राग छोड़नेका स्वप्नमें भी ध्यान नहीं रखते हैं। वे मिथ्याबुद्धि वाले हैं, उनकी दृष्टि ही विपरीत है। जो व्यक्ति सीधा शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका लक्ष्य न रक्खे वह दृष्टि सही दृष्टि नहीं है। निज सहजस्वरूपको छोड़कर अपनेको नाना

रूप मानना, वे सब दृष्टियां विपरीत दृष्टियां हैं। शुभराग और अशुभराग को अपनाने वाले जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं।

ज्ञानीकी समागममें अरुचिपर दृष्टान्त— जैसे ए क्लासकी कैदमें पड़ा हुआ कैदी मिले हुए बहुत ठाठ बाटसे भी राग नहीं रखता है, उसे जेलखानेमें बड़ी सुविधायें दी गयीं, खूब बढ़िया मनपसंद भोजन करे, उसके लिए एक रसोइया भी रक्खा जाय, जितना चाहे खर्च करे, जेब खर्च भी मिले, जिस तरहसे घरमें रहता है उस तरहसे जेलमें रहे, ऐसा ए क्लासका कैदी अपने पाये हुए समागममें, आराममें राग नहीं करता है। ऐसे ही ए क्लासका संसारका कैदी पुण्योदय वाला धनिक राजा महाराजा ज्ञानीपुरुष अपने पाये हुए समागममें राग नहीं करता है। वह तो सोनेकी बेड़ी को भी बंधन समझता है। इन भिन्न असार परवस्तुवोंमें रागके परिणाम होनेको गंदगी मानता है। और जैसे सी क्लासके कैदी चक्की पीसने, बोझा ढोने, खेती करने आदि जितने भी उनसे काम कराये जाते हैं और पीड़ाएँ देते हैं, क्लेश होते हैं—जैसे उन क्लेशोंमें उन्हें रुचि नहीं है ऐसे ही ये ज्ञानी पुरुष भी कदाचित् पाप उदयके कारण सी क्लासके कैदी बनकर बड़ी विपत्तिओंका बोझ होते हैं, फिर भी उनके राग विरोध नहीं है।

अज्ञानीकी उद्दंडता— इसके विपरीत धनिक राजा महाराजा अज्ञानी पुरुष पाये हुए समागमको छोड़ना नहीं चाहते। इन समागमोंके खातिर अन्याय करना पड़े, धर्मका विरोध करना पड़े, सब कुछ करनेको तैयार हैं। खोटा रोजिगार, खोटी कम्पनियां, कषायीखाना और बड़े गंदे होटल कितने ही काम करने पड़ें, धर्मका विरोध करना पड़े तो वह धर्मका विरोध करके अन्याय करके भी मस्त रहना चाहते हैं, अपनाना चाहते हैं और पापका उदय आने पर उससे भयभीत होते हैं और इतना ही नहीं; अपने विषयसाधनोंके खातिर तो बड़े कष्ट भी सहने पड़ते हैं। परदेश जा रहे हैं, सवारियोंमें भिचे हुए जा रहे हैं, खड़े-खड़े जा रहे हैं, भूखे प्यासे रहते हैं, इन सब कष्टोंको भी खुशी-खुशी सहते हैं और अपने मोह ममताकी खोटी दृष्टि भी नहीं छोड़ सकते। ये शुभराग और अशुभराग यों ही नृत्य कर रहे हैं।

साधुओंकी परमोपेक्षा— साधु ज्ञानी पुरुष किसी प्रकारके रागको अपनाता नहीं है, ऐसे ही द्वेषपरिणामका जहां परिहार है वहां ही मनोगुप्ति है। द्वेष परिणाम एकांततः अशुभ है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, परके स्वरूपसे नहीं है। वे जैसे हैं, वैसे पड़े हुए हैं; किन्तु हमारा ही अब

अन्तरका परिणाम मलिन होगा तो उन पदार्थोंमें किसीको इष्ट मान लेते हैं और किसी पदार्थको अनिष्ट मान लेते हैं।

धर्मपात्रताके लिये नीतिशास्त्रका वर्णन— नीतिशास्त्रमें लिखा है कि धर्मको वही पाल सकता है जो ऐसा हृदय बनाये हुए है कि मृत्यु मेरे केशोंको पकड़े हुए बैठी है, न जाने कब झकझोर दे और मुझे इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा। नीतिशास्त्र कहता है कि विद्या और धन; इन दोनोंका उपार्जन तो तब किया जा सकता है जब यह जानें कि मैं अजर अमर हूं, न मैं बूढ़ा होऊँगा, न मरूँगा—ऐसी पूर्ण दृष्टि न हो तो थोड़ी बहुत भी हो तो धन कमा सकते हैं और विद्या प्राप्त कर सकते हैं। कोई ऐसा ही विश्वास लिए हो कि हम तो आज ही मर जायेंगे तो वह सोचेगा कि धन क्यों कमायें और ये व्याकरणके जीवस्थानके शास्त्र काहेको पढ़ें, शामको तो मरण ही हो जायेगा, तो जिसे अपने आपके ध्यानमें अजरत्व और अमरत्वकी बात नहीं है वह विद्या और धनका संचय नहीं कर सकता है। इसी प्रकार जिसको यह विश्वास न हो कि मृत्यु मेरे केशोंको पकड़े हुए बैठी हुई है, जब चाहे उठा ले जाय, ऐसो मनमें बात न जमें तो धर्मका पालन भी उत्तम रीतिसे नहीं हो सकता।

विवेकमें धर्मकी प्रतीक्षा— भैया ! जरा इसका अंदाज ही कर लो। जब कोई कठिन बीमारी हो जाती है, जिसमें यह दिखता है कि अब तो मेरी मौत होने वाली है उस समय धन वैभव परिजन वगैरह कुछ नहीं रुचते हैं और यह इच्छा होती है कि कुछ समय और जीवित रहता तो मैं केवल धर्म ही धर्मका प्रोग्राम रखता। उन सुभटोंकी बात नहीं कह रहे हैं कि जो मरनेके समय भी आत्महितकी रंच भी कल्पना नहीं लाते। उन्हें विषयोंकी प्रीति ही सुहाती है। मरते समय भी कहते हैं कि मेरी स्त्रीसे मिला दो, पुत्रसे मिला दो जिससे आंखें तृप्त हो जायें। ऐसे विषय कषायोंके प्रेमी सुभटोंकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु जिनमें जरा भी विवेक है उनको मृत्युके समय धर्मकी चाह होती है। धन वैभव परिवार इन सब की रुचि नहीं रहती है।

धर्मकी उन्मुखतामें मनोगुप्तिकी संभवता— धर्म है ज्ञाताद्रष्टा रहना अर्थात् रागद्वेष मोहके मलिन परिणाम न होने देना। इस ओर जिनकी उन्मुखता होती है उनका मन वश हो जाता है। यह बात उनके ही सम्भव है जो वस्तुस्वरूपके यथार्थ विज्ञानी हैं। वे ही मनोगुप्तिका पालन कर सकते हैं। मनोगुप्तिके सम्बन्धमें उत्कृष्ट बात तो यह है कि चिंतन सब रोक दें और अनुत्कृष्ट बात यह है कि अशुभ चिंतनको बिलकुल समाप्त कर दें।

यह मन खाली नहीं बैठा करता। यहां जितने पुरुष बैठे हैं इतने ही मन हैं और सबके मन अपनी-अपनी कल्पनीको संभाले हुए हैं, जिनका जैसा जो कुछ चिंतन है। मन धर्मकी ओर कुछ कहीं लग रहा है और किसी तरह लग रहा है, कुछ बाहरसे भी हटा हुआ है, कुछ धर्मकी बातमें भी चित्त लगा हुआ है और लो फिर यह कुछ हट गया, फिर यहां लग गया, कैसी विचित्र परिणतियां कर रहा है यह मन।

मन मरकटको शुभमें उपयुक्त करनेकी आवश्यकता— अहो, यह मन बंदरसे भी अधिक चंचल है। बंदरोंको देखा होगा कि वे खाली नहीं बैठ सकते। जब नींद आ जाय तो चाहे थोड़ी देर पड़े रहें, पर जागते हों तो स्थिर नहीं बैठ सकते। कहीं पैर हिलाया, कहीं हाथ हिलाया और उनकी आंखें तो बड़ी ही विचित्र हैं। कैसा मटक ही है कि जरासी देरमें आंखोंमें टोपी लग जाती है जरा सी देरमें टोपी हट जाती है। कैसी विचित्र चंचलता है? उससे भी अधिक चंचल यह मन है। इस मनको किसी न किसी शुभ कार्यमें जुटाये रहना चाहिए यदि अपना कल्याण चाहते हो। इसे शुभ कार्य न मिलेंगे तो अशुभ कार्योंमें लग बैठेगा। इस तरह ज्ञान ध्यान पूजा, सत्संग, परोपकार, सेवा इन कार्योंमें भी लगना चाहिए। इन शुभ कार्योंमें मन लगा होगा तो यहां इतनी पात्रता है कि उन शुभकार्योंका भी परिहार करके क्षण मात्र तो अपने आपके शुद्धज्ञायक स्वरूपका अनुभव कर सकेगा।

मनको अभीक्ष्ण कार्यमें लगानेकी आवश्यकता पर एक दृष्टान्त— एक राजा था, उसने देवता सिद्ध किया। देव सिद्ध हो गया तो राजासे कहा राजन्! जो तुम कहो वही काम क्षणभरमें कर देंगे। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। राजाने कहा—अच्छा एक महल बना दो। झट महल बन गया। कहा राजन् काम बतावो। काम न बतावोगे तो तुम्हारी जान ले लेंगे। अच्छा वहां तालाब बनादो। बन गया वहां तालाब। राजन्! काम बतावो। वहां सड़क बनादो। बन गयी वहां सड़क। फिर कहा—राजन् काम बतावो नहीं तो तुम्हारी जान ले लेंगे। वह बड़ी चिंतामें पड़ा, सोचा कि अब क्या करें? समस्याका एकदम बुद्धिने हल कर दिया। देव कहता है राजन् काम बतावो। अच्छा ६० हाथकी एक लोहे की डंडी लावो। आ गई डंडी। काम बतावो। अच्छा एक ६४ हाथ लम्बी जंजीर लावो। आ गई जंजीर। राजन् काम बतावो। अच्छा इस जंजीरका एक छोर डंडीमें बांध दो। लो बांध दिया। राजन् काम बतावो। अच्छा इस जंजीर का एक सिरा बंदर बनकर अपने गलेमें फंसादो। लो मन गये बन्दर,

गला फांस लिया। राजन् काम बतावो। अच्छा जब तक हम नहीं कहें तब तक तुम इस डंडीमें चढ़ो और उतरो। तो बारबारके चढ़ने और उतरनेमें वह परेशान हो गया। हाथ जोड़कर देव कहता है, राजन्! माफ करो, हम अपनी वह बात वापिस लेते हैं कि काम न बतावोगे तो हम तुम्हारी जान ले लेंगे। हम अपने वचन वापिस लेते हैं और तुम जब भी हमारी याद करोगे तब हम तुम्हारा काम आकर कर देंगे।

शिवस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें मन लगानेका परिणाम— यह मन बंदर से भी अधिक चंचल है, इसे तो ऐसा काम बतावो कि जिस काममें रह कर फिर यह अपना काम भी छोड़ दे। कौनसा काम ऐसा है कि जिस काममें रहकर यह मन अपना काम हठ छोड़ सकता है? विषय और कषायोंके पुष्ट करने वाला यह काम ऐसा नहीं है कि इस काममें रहकर यह मन अपना काम छोड़ दे। खूब खोज करो—ऐसा कौनसा काम है कि जिस काममें रहकर यह अपना काम भी छोड़ दे? वह काम है निज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपके दर्शन करनेमें इसके ध्यान और चिन्तनमें मनको लगाना। इस ओर जरा मन तो लगे, बस, फिर वह अपना काम छोड़ देता है और तब आत्मानुभूति प्रकट हो जाती है। भले ही हमारी गड़बड़ोंके कारण हमारी कायरता और कमजोरीके कारण फिरसे मन हम पर हावी हो जाय पर कार्य ऐसा है यह कि जिस कार्यमें रहने पर यह मन अपने कार्यको भी त्याग देता है।

आत्मचारित्रके अर्थ अपना कर्तव्य— भैया! अपने मनको अशुभ-कार्योंसे हटाकर शुभ कार्योंमें लगाना यह अपना कर्तव्य है। किन्तु साथ ही सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य यह है कि वस्तुस्वरूपका यथार्थज्ञान करके समग्र वस्तुवोंके यथार्थ सहजस्वरूपके ज्ञाताद्रष्टा रह सकना, यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। मुनिजन सब प्रकारके राग और द्वेषसे दूर रहते हैं, ऐसे समग्र अशुभ परिणामरूपी आस्रवोंका परिहार करना ही मनोगुप्ति है। मन चूंकि बाह्य वस्तु है, आत्माके स्वभावकी बात नहीं है ऐसे उस मनको वशमें करनेकी बात यह सब व्यवहारचारित्र है। निश्चयचारित्र तो वह है कि यह मन गुप्त होकर जिस स्वच्छताको प्रकट करनेमें स्वच्छता बर्ते और अन्तरमें स्वच्छता जब जाग्रित हो जाय तो वहां यह मन भी विलीन हो जाय। निश्चयचारित्र तो यह है। इस प्रकार तीन गुप्तियोंमें से यह उत्कृष्ट मनोगुप्तिका वर्णन अब समाप्त होनेको है।

॥ नियमसार प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त ॥